Novembar 2022

Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

नवम्बर २०२२

श्रीअरविन्द आश्रम

पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन नवम्बर २०२२

विषय-सूची

'पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति'

अतिमानस तथा प्रकाश का मन	श्रीअरविन्द	३
श्रीमाँ के साथ पृथ्वी सिंह का पत्र-व्यवहार	श्रीमाँ	७
एकमेव तथा समान	श्रीअरविन्द	१५
श्रीअरविन्दाश्रम	'श्रीमातृवाणी' खण्ड १३ से	१७
शरीर की साधना	श्रीअरविन्द/श्रीमाँ	१८
"मैं तुम्हारे साथ हूँ"	'श्रीमातृवाणी' खण्ड १३ से	२१
श्रीअरविन्द के उत्तर (८६)		२५

'पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति'

अपने अन्तिम गद्य-लेखनों में श्रीअरविन्द ने *Bulletin of Physical Education*—शारीरिक शिक्षण की पत्रिका—(जिसका बाद में नाम बदल कर *Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education*—श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र-पत्रिका—कर दिया गया था) के लिए आठ लेख लिखे थे। यह त्रैमासिक पत्रिका फ़रवरी १९४९ में शुरू हुई थी। ये लेख १९४९ तथा १९५० के अंकों में प्रकाशित हुए थे। १९५० में श्रीअरविन्द के शरीर-त्याग के साथ यह कड़ी टूट गयी। बाद में १९५२ में *पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति* के नाम से यह पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई।

अतिमानस तथा प्रकाश का मन

(श्रीअरविन्द के लेख—धरती पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति के आधार पर)

अतिमानस का तात्त्विक गुण है, 'सत्य'-चेतना जो अपने स्वभाव के जन्मजात अधिकार, स्वयं अपने प्रकाश से सब कुछ जानती है : उसे ज्ञान तक पहुँचना नहीं, बल्कि उसे हस्तगत करना है। वास्तव में यह, विशेषकर अपनी क्रमविकसनशील क्रिया के द्वारा ज्ञान को उसकी आभासी चेतना के पीछे रख सकती है और उसे ऐसे बाहर ला सकती है मानों वह घूँघट के पीछे से निकला हो; लेकिन फिर भी यह घूँघट केवल एक ऊपरी आभास होता है, सचमुच इसका अस्तित्व नहीं होता : ज्ञान हमेशा से था, साथ ही थी चेतना, ज्ञान का स्वामी और वर्तमान प्रकटनकर्ता। यह भी केवल क्रमविकासात्मक स्तर पर है, स्वयं अतिमानसिक स्तर पर चेतना हमेशा ज्ञान के कौशल पर जीती है और ज्ञान की प्रत्यक्ष अविलम्बता में क्रिया करती है। मन को, जैसा कि हम यहाँ देखते हैं, उसमें उसकी क्रिया बहुत भिन्न होती है; वह ज्ञान की आभासी अनुपस्थिति से शुरू होती है, अज्ञान तथा शून्यता प्रतीत होती है, यहाँ तक कि भौतिक 'प्रकृति' में भी वह चेतना उस निश्चेतना में से आती प्रतीत होती है जिसमें ऐसा लगता है कि किसी भी तरह के ज्ञान का अस्तित्व नहीं हो सकता। वह ज्ञान अथवा ज्ञान की क्रिया तक ऐसे धीमे चरणों द्वारा पहुँचती है जो तत्काल नहीं लिये जाते बल्कि पहले-पहल तो ऐसा लगता है कि वहाँ ज्ञान का वास एकदम से है ही नहीं और जो इस 'भौतिक' के सारतत्त्व के एकदम विजातीय है। फिर भी, स्वयं 'भौतिक' के अन्धेपन में एक छिपी हुई चेतना के चिह्न दिखायी देते हैं जो अपनी गुह्य सत्ता में देखती है और जिसमें अपने अन्तर्दर्शन के अनुसार क्रिया करने की शक्ति होती है, और इसे वह अचूकता के साथ तुरन्त कर भी सकती है, क्योंकि यह कौशल उसके अन्दर निहित है। यह वही 'सत्य' है जो अतिमानस में प्रकट है, लेकिन यहाँ वह अन्दर छिपा हुआ है और ऐसा लगता है कि यहाँ वह है ही नहीं। 'प्रकाश' का मन अतिमानस की अधीनस्थ

क्रिया है, और जब ऐसा लगता है कि वह उसमें से सीधा नहीं निकल रहा फिर भी उसी पर निर्भर रहता है और इन दोनों के बीच के सम्बन्ध का रहस्य स्पष्ट और इन्द्रियगोचर हो जाता है।

'सत्य'-चेतना न केवल ज्ञान की शक्ति है, बल्कि वह चेतना तथा ज्ञान दोनों की सत्ता है, एक कान्तिमय बहुमुखी ऊर्जा तथा सर्वज्ञ आत्मा की लीला है; इस चेतना में एक आध्यात्मिक भावना, एक आध्यात्मिक संवेदना, तत्त्वों की एक ऐसी आध्यात्मिक तात्त्विकता हो सकती है जो जानती है, प्रकट कर सकती है, जो एक ऐसी सर्वज्ञता में क्रिया करती और अभिव्यक्त होती है जो सर्वशक्तिमत्ता के साथ एक होती है। मन में यह 'सत्य'-चेतना होती है तथा इस 'सत्य'-चेतना के क्रिया-कलाप हो सकते हैं, और भले वह स्वयं को मन में सीमित कर ले, उसके अधीन हो जाये या प्रकट रूप से क्रिया न भी करे, फिर भी इसकी क्रिया तत्त्वतः समान हो सकती है। यहाँ तक कि उसमें एक ऐसा गुह्य चिह्न हो सकता है जो किसी ऐसी तात्त्विक वस्तु की ओर इशारा करता हो जिसमें समान सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता का प्रमाण हो। जब 'प्रकाश' का मन पूर्ण गोलाकार बन जाता है तब 'सत्य' का यह गुण उसमें स्वयं को प्रकट करता है, यद्यपि करता है उस परदे के पीछे जो पारदर्शक होता है, वह भी सत्य-चेतना और ज्ञान की आत्म-शक्ति ही होती है। यह चीज़ भी अतिमानस से निकलती है और उसी पर निर्भर होती है, भले वह सीमित और अधीनस्थ हो। जिसे हमने विशेषकर 'प्रकाश' का मन कहा है वह सचमुच उतरती हुई चेतना की शृंखला की अन्तिम कड़ी है जिसमें अतिमानस स्वयं चुनी हुई सीमा तथा परिवर्तन द्वारा अपने को छिपा लेता है, लेकिन उसका तात्त्विक गुण वह का वही बना रहता है; उसमें होती है प्रकाश, सत्य तथा ज्ञान की क्रिया जिसमें निश्चेतना, अज्ञान तथा भूल-भ्रान्ति का कोई स्थान नहीं होता। वह ज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ता है; अभी तक हम अज्ञान से छलाँग लगा कर सत्य-चेतना की देहली को पार नहीं कर पाये हैं। इसके लिए पहले हमें इसकी अपनी सीमाओं के अन्दर आत्म-प्रबोधक ज्ञान, दर्शन तथा संवेदन और आत्म-सिद्ध क्रिया को सम्पन्न करना होगा। पूर्ण अतिमानस से 'मन' में अवतरण हुआ है, लेकिन 'मन', चूँकि यह आत्म-सीमित है इसलिए अभी तक यह अज्ञेयवादी चेतना नहीं है, यह अभी तक अपने बारे में, अपनी क्रियाओं के बारे में अनिश्चित है। एक ऐसी व्यापक तथा बोधगम्य चेतना होती है जो सीधे अपने लक्ष्य की ओर जाती है, अपना निशाना नहीं चूकती या उसे अँधेरे में या कम रोशनी में अपने ध्येय को खोजना नहीं पड़ता। हमारे मन के अन्दर अतिमानसिक तत्त्व ने प्रवेश पा लिया है और अब उसका सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होगा।

फिर भी अब तक एक वर्धनशील आत्म-सीमितता है जो अधिमानस के साथ भी शुरू हो गयी है : अधिमानस तथा अतिमानसिक 'सत्य' के पूर्ण प्रकाश और शक्ति के बीच उन्हें पृथक् करने वाली बस एक सुनहरी किनारी है और अब भी अधिमानस की पहुँच में वह सब है जो अतिमानस उसे दे सकता है। हर एक नीचे उतरते हुए चरण में दूसरी सीमाएँ तथा विशेष गुणों की क्रिया के परिवर्तन आ जाते हैं—अधिमानस से अन्तःप्रेरणा, अन्तःप्रेरणा से प्रबोधक मन, प्रबोधक मन से उस मन तक उतरते-उतरते—जिसे मैंने उच्चतर मन कहा है—क्रिया के परिवर्तन

आ जाते हैं। 'प्रकाश' का मन एक संक्रमणशील रास्ता है जिससे होकर हम अतिमानस तथा अतिमानवता से गुज़रते हुए प्रबोधक तथा उज्ज्वल मानवजाति तक पहुँच सकते हैं। और नयी मानवता कम-से-कम आंशिक रूप से तो भागवत तरीक़े से देख सकेगी, जी सकेगी क्योंकि वह अज्ञान के अन्धकार में नहीं बल्कि प्रकाश तथा ज्ञान में जियेगी।

फिर भी, अतिमानव तथा मानव की प्रकृति तथा शक्ति में अन्तर तो होगा ही, लेकिन विशेष रूप से भेद होगा 'सत्य'-चेतना तथा उसकी क्रियाओं तक पहुँचने और उनमें प्रवेश करने के तरीक़े में : वस्तुतः इस सत्य में दो चीज़ें हो सकती हैं—इसका प्रत्यक्ष या अर्ध-प्रत्यक्ष अथवा तुरन्त या दूरस्थ दर्शन। लेकिन यह बाद की बात है, अभी बस इतना पर्याप्त है कि उस गूढ़ज्ञानवादी ज्ञान के उतरते हुए क्रम में जो भेद हैं उन्हें हम देख पायें, क्योंकि उस ज्ञान की सम्पन्नता यही होती है। हम कह सकते हैं कि हमारी सत्ता का एक उच्चतर गोलार्ध है जिसमें प्रकाशमान तथा अपनी क्रियाओं से सचेतन 'मानस' अब भी 'प्रकाश' में निवास करता है और जिसे अतिमानस की एक अधीनस्थ शक्ति के रूप में देखा जा सकता है; फिर भी है वह 'सत्य'-चेतना, विज्ञानमयी चेतना का 'एजेण्ट' जो मानसिक अज्ञान में उतरी नहीं है; वह मन एक ऐसे मानसिक गुह्य ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ होता है जो उच्चतर प्रकाश के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखता है और उसकी शक्ति की क्रिया के द्वारा कार्य करता है। यह है अधिमानस के अपने स्तर पर तथा जो भी शक्तियाँ अधिमानस पर निर्भर करती हैं उनका गुण : अतिमानस वहाँ कार्य करता है... हम एक संक्रमणशील सीमा की ओर बढ़ रहे हैं जिसके परे हो सकता है कि अब भी अज्ञान पैठा हुआ हो, लेकिन वह अभी यहाँ नहीं है। लेकिन क्रमविकासात्मक अवतरण में हम 'प्रकाश के मन' के किनारे खड़े हैं और एक क़दम नीचे हमें उस अज्ञान के आरम्भ में पहुँचा सकता है जो अब भी कुछ हद तक प्रकाश को वहन करता है। दूसरी ओर, क्रमविकास के चढ़ते हुए क्रम में हम ऐसी संक्रमणशील अवस्था में पहुँचते हैं जहाँ हम प्रकाश को देखते हैं, उसकी ओर मुड़ते हैं, वह हमारी चेतना में प्रतिबिम्बित होता है, और एक पग आगे बढ़ाने पर हम 'प्रकाश' के राज्य में पहुँच जाते हैं। तब 'सत्य' हमारे लिए दृश्यमान और कर्णगोचर हो जाता है और हम उसके सन्देशों और दीप्तियों के साथ तुरन्त सम्बन्ध जोड़ लेते हैं और उसमें विकसित होकर उसके तत्त्व के साथ एक हो सकते हैं। इस तरह चेतना की शृंखलाओं का अनुक्रम होता है जिसे हम 'मन' के नाम से पुकार सकते हैं, लेकिन वह वास्तव में उच्चतर गोलार्ध की वस्तु है, यद्यपि अपने सारतत्त्व में वे शृंखलाएँ निम्नतर गोलार्ध में ही रहा करती हैं। कारण, सारी सत्ता समग्र रूप से जुड़ी हुई है और उसमें 'सत्य' तथा 'प्रकाश' के सिद्धान्त से उनके विपरीत सिद्धान्तों तक एक छलाँग में नहीं पहुँचा जाता। निश्चेतना में भी वस्तुओं का सर्जनशील सत्य कार्य करता और अचूक रूप से कार्य कर सकता है : जड़-भौतिक में भी आत्मा है और उसने इतने पग आगे बढ़ाये हैं कि उनसे होते हुए हम सीधी लकीर में ऊपर चढ़ सकते हैं; गहराइयाँ ऊँचाइयों से जुड़ी हुई हैं और एक 'सत्य' का 'विधान' सृजन करता तथा सर्वत्र कार्य करता है।

यहाँ तक कि भौतिक जगत् में भी—जो अज्ञान का जगत् प्रतीत होता है—एक अन्ध तथा निश्चेतन शक्ति का जगत् कार्य करता है; वह शक्ति निश्चेतना से आरम्भ होकर, अज्ञान से होती हुई बहुत मुश्किल से एक अपूर्ण 'प्रकाश' तथा 'ज्ञान' तक पहुँचती है, लेकिन फिर भी, सभी वस्तुओं में एक गुह्य 'सत्य' होता है जो सब कुछ व्यवस्थित करता है, उस 'आत्मा' की ओर पथ-प्रदर्शन करता और उठाता है जिसमें बहुत सी परस्पर विरोधी शक्तियाँ होती हैं, और वहाँ वह 'आत्मा' अपने उच्चतम सत्य को अभिव्यक्त कर सकती है और जगत् के गुप्त उद्देश्य को सम्पन्न कर सकती है। अस्तित्व का यह भौतिक जगत् भी सत्य के एक ऐसे प्रतिरूप पर निर्मित है जिसे हम 'प्रकृति का विधान' कहते हैं, उस सत्य पर जिससे होकर हम तब तक महानतर सत्य पर चढ़ते चले जाते हैं जब तक कि 'परम' के 'प्रकाश' में नहीं निकल आते। यह विश्व वास्तव में 'प्रकृति' की किसी अन्ध शक्ति के द्वारा निर्मित नहीं किया गया है : अचेतन वस्तु में भी परम 'सत्य' की उपस्थिति कार्यरत है; इसके पीछे एक द्रष्टा-'शक्ति' होती है जो बिना भूल के कार्य करती है तथा 'अज्ञान' के पग स्वयं उस समय भी मार्गदर्शित किये जाते हैं जब वे लड़खड़ाते या ठोकर खाते प्रतीत होते हैं; क्योंकि जिसे हम 'अज्ञान' कहते हैं वह लबादा ओढ़े हुए 'ज्ञान' है, ऐसा 'ज्ञान' जो ऐसे शरीर में कार्य कर रहा है जो उसका अपना नहीं है, लेकिन फिर भी स्वयं अपने परम आत्म-अन्वेषण की ओर बढ़ रहा है। यह 'ज्ञान' ही वह गुप्त अतिमानव है जो सृष्टि का सहारा है और जो सभी को स्वयं अपनी ओर लिये जा रहा है और इन असंख्य मनों, प्राणियों तथा चीज़ों के पीछे सबका पथ-प्रदर्शन करता है, ऊपर से भले यह लगता हो कि प्रत्येक अपने स्वभाव के नियम का पालन कर रहा है। वस्तुतः, अस्तित्व की इस विशाल तथा ऊपर से दीखने वाली इस भ्रान्त राशि के पीछे एक विधान है, सत्ता का एक सत्य है, वैश्व अस्तित्व के पथ का प्रदर्शन करने वाला और उसे सम्पन्न करने वाला एक उद्देश्य है। यहाँ अतिमानव के ऊपर एक आवरण पड़ा हुआ है और वह अपनी सत्ता तथा आत्म-ज्ञान के विशेष विधान के अनुसार कार्य नहीं करता, लेकिन उसके बिना कोई भी वस्तु अपना लक्ष्य भी नहीं पा सकती। अज्ञानी मन के द्वारा शासित संसार शीघ्र ही अस्त-व्यस्तता में बह जायेगा; वस्तुतः वह अस्तित्व में ही नहीं आ पायेगा या अस्तित्व में बना नहीं रहेगा जब तक कि वह गुह्य सर्वज्ञता उसे सहारा न दे। और तब तक एक अन्धी निश्चेतना से शासित शक्ति द्वारा वही समान यान्त्रिक क्रियाएँ चलती चली जायेंगी, लेकिन इसका कोई अर्थ नहीं होगा और यह चीज़ हमें कहीं भी नहीं पहुँचा पायेगी। यह उस क्रमविकास का कारण नहीं हो सकता जो जड़-भौतिक से जीवन का सृजन करती है, जीवन से मन का और 'जड़-भौतिक' के क्रमिक स्तरों का; फिर 'जीवन' तथा 'मन' की निष्पत्ति 'अतिमानस' की अभिव्यक्ति में हो जायेगी। वह गुह्य सत्य जो अतिमानस में उभरता है, हमेशा वहाँ उपस्थित था, लेकिन अब वह स्वयं को अभिव्यक्त कर रहा है और वही है चीज़ों का सत्य और हमारे अस्तित्व का अर्थ तथा प्रयोजन।

अस्तित्व के इस क्रम की शृंखला में और सत्ता के निम्नतर गोलार्ध के अन्तिम शब्द के रूप में, यानी जो उच्चतर गोलार्ध का पहला शब्द होगा, हमें वहीं से 'प्रकाश के मन' को देखना

होगा और यह देखना होगा कि उसका स्वभाव कैसा है, कैसी हैं उसकी शक्तियाँ जो उसे उसके विशेष गुण प्रदान करती हैं और जिसे वह मन आत्म-अभिव्यक्ति तथा क्रियाओं के लिए उपयोग में लाता है; तब अतिमन के साथ उसके सम्बन्धों तथा उसके परिणामों और सम्भावनाओं को हम देख पायेंगे और यह जान पायेंगे कि नयी मानवता के जीवन में उसकी क्या भूमिका होगी।
CWSA खण्ड १३, पृ. ५८८-५९२ **श्रीअरविन्द**

श्रीमाँ के साथ पृथ्वी सिंह का पत्र-व्यवहार

(गतांक से आगे)

मेरे प्यारे बच्चे,

मुझे नहीं दीखता कि अतिमानसिक इच्छा उस तरीक़े से कार्य करेगी जैसी कि तुम उससे प्रत्याशा रख रहे हो। उसकी क्रिया होगी—धरती पर 'भागवत संकल्प' को सम्पन्न करना—वह संकल्प चाहे कुछ क्यों न हो। मनुष्यों पर उसकी क्रिया यह होगी कि सचेतन या अचेतन रूप से मनुष्य अपनी तरफ़ से स्वयं की इच्छा को उस दिशा की ओर मोड़ दें जहाँ 'भगवान्' की इच्छा उन्हें ले जाना चाहती है।

लेकिन मैं तुम्हें वचन नहीं दे सकती कि वर्तमान मानव सभ्यता को बनाये रखने की भगवान् की इच्छा है या नहीं।

मेरे प्रेम तथा आशीर्वाद।

३० अगस्त १९४५

मेरे प्यारे बच्चे,

सभी मतों में कुछ सच्चाई होती है और कुछ मिथ्यात्व। अपना आपा खोये बिना दूसरों की रायों को सुन सकना सचमुच एक महान् और लाभकारी चीज़ है। और मैं ख़ुश हूँ कि तुम ऐसा कर पाये।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

५ अक्तूबर १९४५

मेरे प्यारे बच्चे,

तुम्हारे बार-बार बीमार पड़ने से मैं दुःखी हो जाती हूँ; स्पष्ट रूप से यह शरीर में ग्रहणशीलता की कमी को दर्शाता है, लेकिन इसके अलावा और कोई निश्चित कारण नहीं दिया जा सकता कि तुम्हारे अन्दर निस्सन्देह निराशावाद और अवसाद की ओर झुकाव हमेशा

रहता है...

बहरहाल, मैं आशा करती हूँ कि तुम जल्दी ही बेहतर महसूस करोगे, और मैं अपना प्रेम और आशीर्वाद तुम्हें भेज रही हूँ।

१० मार्च १९४६

मेरे प्यारे बच्चे,

अपनी मुश्किलों के बारे में कह कर तुमने बहुत अच्छा किया और इस चीज़ से मैं ज़रा भी अप्रसन्न नहीं हुई। लेकिन तुम मुझे यह कहने की अनुमति दो कि अधिकतर मनुष्यों की तरह तुम्हारे अन्दर की भी कोई चीज़ अकस्मात् हुए परिवर्तनों को नापसन्द करती है, हाँ, अगर स्वयं तुम्हारे मन ने उन परिवर्तनों के बारे में निश्चय कर लिया हो तो अलग बात होती है। अतः, वर्तमान मामले में, सबसे अच्छी चीज़ होगी, कुछ ठहर कर देखना, और नयी व्यवस्था की आदत पड़ जाने पर यह देखना कि क्या तुम्हें इस व्यवस्था के लाभ नहीं दीख रहे।...

मेरे प्रेम तथा आशीर्वाद के साथ।

१८ मार्च १९४६

मेरी प्यारी माँ,

फ़ाइलेरिया के बारे में मैं देख रहा हूँ कि मेरे मन के कहीं किसी अँधेरे कोने में यह आशंका बैठी हुई है कि जैसे ही शरीर पिछले प्रहार के प्रभावों से पर्याप्त रूप से बाहर निकल आयेगा कि यह दोबारा मुझ पर प्रहार करेगा। यह निश्चय ही बुरी चीज़ है और इस ज़हर को अपने शरीर से बाहर निकालने की प्रक्रिया में यह किसी भी तरह से लाभकर सिद्ध न होगा। इस बात की खोज मैंने आज ही की। माँ, मैं प्रार्थना करता हूँ कि आपकी 'कृपा' से यह चीज़ एकदम से चली जाये; नहीं तो, अगर ये प्रहार बीच-बीच में आते रहेंगे तो शरीर तो एकदम लत्ता बन जायेगा। वर दीजिये कि मेरे लिए आपकी जो भी इच्छा हो उसे मैं हर्ष और आनन्द के साथ स्वीकारूँ।

गभीर भक्ति के साथ मैं आपके श्रीचरणों में साष्टांग प्रणत हूँ और अपने कृतज्ञतापूर्ण प्रणाम आपके अर्पण करता हूँ।

हाँ, सभी शारीरिक और साथ-ही-साथ आध्यात्मिक प्रगति के लिए पहला क़दम है—समस्त भय को **निकाल बाहर करना।**

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

१५ जनवरी १९४७

मेरे प्रेम तथा आशीर्वाद।

एक गभीर आन्तरिक शान्ति को हस्तगत कर लो और उसे धीरे-धीरे अपने शरीर के कोषाणुओं में प्रवेश कराते रहो। शान्ति के साथ स्वास्थ्य लौट आयेगा।

२० अप्रैल १९४७

मेरी मधुर माँ,

आप जो हमेशा अपनी भागवत अनुकम्पा के साथ हमारा सुरक्षा-कवच बनी रहती हैं, आप जो माँ, मित्र और पथ-प्रदर्शिका हैं, आप जिनकी ओर हमेशा हम अपने कठिन काल में अभिमुख होते हैं, हे मेरी मधुर माँ, आपके चरणों में मैं समर्पण के अभिवादनों के साथ बारम्बार साष्टांग प्रणत हूँ। विनम्रता के साथ आपके चरणों में घुटने टेके, हाथ जोड़े मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरे अन्दर 'आपकी इच्छा' सम्पन्न हो—वह चाहे कुछ भी क्यों न हो।

कृतज्ञता तथा भक्ति से पूरित हृदय के साथ मैं अपने जन्मदिन की पूर्व-सन्ध्या पर, आपको तथा मेरे प्रभु को अपने प्रणाम अर्पित कर रहा हूँ।

आपका बच्चा।

मेरे प्यारे बच्चे,

तुम्हारे जन्मदिन के उपलक्ष्य में श्रीअरविन्द तुम्हें अपने आशीर्वाद भेज रहे हैं और उनके साथ मैं भी अपने सम्पूर्ण प्रेम के साथ अपने आशीर्वाद जोड़ रही हूँ। *पवित्र* के कमरे में मैं तुमसे शाम ६.१५ बजे मिलूँगी।

२ जून १९४७

मेरी मधुर माँ,

बहुत खेद के साथ मुझे छत के दर्शन के लिए आना बन्द करना होगा। आपके द्वारा सूचना देने के बावजूद, इतने लोगों के आने से आपको सचमुच भयंकर रूप से देर हो जाती है और चूँकि पुस्तकालय अब १२ बजे खुलता है, मुझे भोजनालय भी जल्दी जाना होगा या फिर उस समय मैं काम न करूँ। इसलिए मुझ बिचारे पृथ्वी सिंह को बस तभी कभी-कदास आपके दर्शन प्राप्त होंगे जब उसके सौभाग्य की लहरें उठेंगी। इस तरह चले तो शायद वह तारीख़ दूर नहीं जब अपनी अवतरणशील शक्ति के संघात के द्वारा अतिमानस मुझे उठा कर एकदम से निर्वाण में या निर्वैक्तिक शून्य में फेंक दे अथवा आत्म-विस्मृति की उनींदी निद्रा में सुला दे। बहरहाल, जब तक वह नियति मुझ पर हावी नहीं होती, मैं अपनी परमप्रिय माँ के सुखद चरणों में साष्टांग दण्डवत हूँ और अपने प्रणाम निवेदित करता हूँ—यह बात चाहे जितनी

अफ़लातूनी क्यों न लगे।

मेरे प्यारे बच्चे,

मुझे ऐसा लगता है कि चीज़ों, ख़ासकर अतिमानस की क्रिया-पद्धति के बारे में तुम्हारा दृष्टि कोण बहुत ज़्यादा निराशावादी है। बहरहाल, उसके बारे में मेरी अनुभूति कतई ऐसी नहीं है... लेकिन शब्दों से ज़्यादा अच्छी तरह तथ्य बोलेंगे। इस बीच मैं सुझाव दूँगी कि सवेरे के 'दर्शन' के स्थान पर तुम शाम के 'दर्शन' के लिए आ जाओ और ध्यान के बाद रोज़ ऊपर आओ।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

(बिना तारीख़ का पत्र (१९४७?)

मेरी मधुर माँ,

आपकी चुप्पी के बावजूद, चूँकि 'क' अपने दृष्टिकोण पर अड़ा हुआ है, ज़्यादा अच्छा है कि विभाग की तरफ़ से उसे एक जवाब दे दिया जाये। मैंने एक जवाब तैयार किया है जिसमें आप जहाँ-जहाँ ठीक समझें, बदलाव कर दें माँ। वह सोचता है कि इस तरह आपको परेशान करके वह अपनी बात सिद्ध कर लेगा; इसीलिए मैंने सोचा कि उसे दो टूक जवाब दे देना ही ठीक रहेगा। साथ ही, जब कभी वह आपकी सेवा में कुछ भेंट चढ़ाता है तो उसका बार-बार यह कहना कि "यह सारा धन आप ही का है" एकदम से मारवाड़ी मानसिकता का पुट दर्शाता है। इसके अलावा, प्रकाशन-विभाग में जो पैसा उसने भेंट-स्वरूप दिया है, उसमें वह अपनी टाँग अड़ाने की बहुत कोशिश कर रहा है। जो हो माँ, आप जैसा ठीक समझेंगी वही करेंगी।

गहरी भक्ति के साथ मैं अपने प्रणाम आपके श्रीचरणों में अर्पित कर रहा हूँ।

निश्चित रूप से तुम वह चिट्ठी भेज सकते हो, यद्यपि हो सकता है कि 'क' इसे पसन्द न करे। यह समस्या को नये दृष्टिकोण से देखने में सहायक हो सकता है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

३ फ़रवरी १९४८

मेरी मधुर माँ,

आजकल यहाँ शरीर के विकास के लिए खेल-कूद और उसकी दूसरी सहायक चीज़ों पर जो प्रचण्ड बल दिया जा रहा है, उससे एक सामान्य हवा बन रही है कि यह साधना का एक अनिवार्य हिस्सा है और इसलिए जो इसमें भाग नहीं ले रहे, उन्होंने किसी-न-किसी रूप में अपने-आपको 'शक्ति' की सम्पूर्ण क्रिया से एकदम

अलग-थलग कर लिया है।...

व्यक्तिगत रूप से मैंने अपने-आपको इन गतिविधियों से दूर ही रखा है, इसका सबसे प्रमुख कारण तो मेरी आँखों की ख़राबी है, हालाँकि अपनी किशोर तथा युवावस्था में मैंने कम-से-कम कुछ सालों तक तो बहुत कसरतें, डम्बेल और कुछ आसन इत्यादि भी किये हैं। साथ ही मेरे अन्दर स्वाभाविक रूप से ही इस सबके प्रति झुकाव कुछ कम ही रहा है।

बेचैन मत होओ—अतिमानस की सिद्धि के लिए शारीरिक कसरतें करना अनिवार्य नहीं है!

अभी जो हो रहा है उसके बारे में ब्योरे से समझाना बहुत ज़्यादा समय ले लेगा—लेकिन एक चीज़ निश्चित है : हर एक को, जो दूसरे करते हैं उस पर ध्यान दिये बिना, अपने पथ पर आगे बढ़ते रहना चाहिये और सभी सच्चे और स्थिर उद्यम के लिए लक्ष्य का द्वार खुला हुआ है।

११ जून १९४८

मेरी मधुर माँ,

कल, पुस्तकालय में, जहाँ मैं काम करता हूँ उसके परली तरफ़ की खिड़की का शीशा खेलते समय बच्चों से टूट गया। 'क' ने ख़ुद यह स्वीकार किया कि उसी से काँच टूटा जब उसने एक लड़के के लट्टू को दूर हटाने के लिए अपने लट्टू का निशाना उस पर साधा, उसी ने काँच से छितरे कमरे की पूरी सफ़ाई की। सौभाग्यवश, उस समय वहाँ कोई बैठा न था।

इसमें बच्चों का इतना दोष नहीं, जितने माता-पिता दोषी हैं। उनका मानना है कि श्रीमाँ बच्चों की देखभाल कर रही हैं और उनकी अपनी कोई ज़िम्मेवारी नहीं है।...

लेकिन, मैं आशा करता हूँ माँ कि आश्रम की इमारत को दूसरा क्रीड़ागण बनने से रोकने के लिए कुछ करना तो सम्भव होगा।

तुमने ऊपर जो कुछ कहा वह एकदम सच है—रही बात बच्चों के वहाँ खेलने की, हम उसे रोकने की कोशिश करेंगे।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

३१ दिसम्बर १९४९

मेरी मधुर माँ,

मैं आपसे मिलना चाहता था माँ, क्योंकि आपके नाम पर कुछ ऐसी चीज़ें कही गयी हैं जिनसे मुझे तकलीफ़ पहुँची—यह मैं खुले रूप में स्वीकार कर रहा हूँ। स्वाभाविक है कि ऐसी चीज़ें मैं लिखना नहीं चाहता। लेकिन मुझे यह भी मालूम

है कि आपके पास समय नहीं है, और अब वैसे इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है। मैंने बहुत प्रयास किया और अब मैं सोचता हूँ कि मैंने अपने-आपको उस दु:खदायी स्पन्दन से मुक्त कर लिया है।

मेरे प्यारे बच्चे,

मुझे इस चीज़ के बारे में बिलकुल भी पता नहीं है कि मैंने तुम्हारे बारे में ऐसा कुछ कहा हो जो तुम्हें ज़रा भी तकलीफ़ दे—इसलिए मैं तुम्हें सलाह देती हूँ कि लोगों की बातों पर कान न दो—ज़्यादातर लोग दूसरों को बेचैन बना देने में बहुत ख़ुशी का अनुभव करते हैं; और जब उनके पास दोहराने के लिए कोई अप्रिय बात नहीं होती तब वे उसका आविष्कार कर लेते हैं।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

८ फ़रवरी १९५१

मेरी मधुर माँ,

मुझे अपने 'प्रभु' के दो छोटे-छोटे बाल मिले हैं। वे इतने बहुमूल्य और पवित्र हैं कि आपकी जानकारी और अनुमति के बिना मुझे उन्हें रखना नहीं चाहिये।

मैं वह पवित्र ख़ज़ाना द्युमान् के साथ आपको भेज रहा हूँ माँ और अगर आप कृपा करके मुझे वह वापस लौटा दें तो मैं उन्हें अपने पास रख कर बहुत ही प्रसन्न होऊँगा। लेकिन माँ, आप वही करें जो आप अच्छे-से-अच्छा सोचती हों, और आप जो भी निश्चय लें, मैं यह जानते हुए कि यही सर्वोत्तम है, उसे स्वीकार करने में हमेशा ख़ुश रहूँगा।

तुम उन्हें अपने पास रख सकते हो, मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

८ अप्रैल १९५१

मेरी मधुर माँ,

पिछली जनवरी, मुझे याद है—वह तीन तारीख़ थी—जब मैं फ़ाइलेरिया के घोर हमले से आक्रान्त हो गया था, तेज़ बुख़ार, भयंकर दर्द और कँपकँपी से तड़प रहा था।...

उसी रात मुझे एक स्वप्न-अनुभूति हुई, क़रीब-क़रीब जाग्रत् अवस्था में मैंने एक अन्तर्दर्शन देखा। मैंने दो सत्ताओं को देखा, जिनके चेहरे मैं नहीं देख पाया, दो लम्बे कद-काठीवाले मज़बूत पुरुष, जो ऐसा लग रहा था मानों भारी 'फ़र कोट' पहने हों (बाद में मुझे लगा कि वे अपनी पीठ पर जड़ी-बूटियों का भारी गट्ठर ढो रहे थे, बीच-बीच में उसमें से कुछ प्रकाश फूट रहा था)। वे मेरे पास आये और

उन्होंने मुझे निहारा। मुझे रत्ती-भर डर नहीं लग रहा था, मैंने बस यही कहा, "अगर तुम श्रीमाँ के यहाँ से आये हो तो तुम जो चाहो कर सकते हो, अगर नहीं आये तो मेरा तुम्हारे साथ एकदम से कोई सरोकार नहीं, तुम चाहे जो हो। मैं दृढ़ता के साथ तुम्हारे प्रभाव से दूर हट रहा हूँ और तुम मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकते।" इसके साथ मैं शान्तिपूर्वक आपके नाम का जाप कर रहा था और मैंने अपने-आपको अन्दर, पीछे की ओर खींच लिया। कुछ देर तक वे एक-दूसरे के साथ बातचीत करते रहे, मुझे सन्देह है कि मेरी टिप्पणी पर वे हँसे भी। उन्होंने अपनी पीठ के पीछे के उस गट्ठर से कुछ निकाला भी, जहाँ से प्रकाश फूट रहा था। इसके अलावा दूसरे ब्योरों की मुझे कोई याद नहीं, मैं नहीं समझ पाया। फिर वे धीरे-धीरे वहाँ से चले गये और मैं पूरी तरह से जाग गया।

तो इसका एकमात्र परिणाम यह निकला कि मैंने ग़ौर किया कि इस बार मेरा बुख़ार और सूजन बहुत जल्दी कम हो गये। लेकिन फ़ाइलेरिया की परेशानी अब भी बनी हुई है। शरीर अब तक 'शक्ति' के प्रति खुला हुआ नहीं है।

मैं यह जानने के लिए उत्सुक हूँ कि कौन थे वे जो जुड़वाँ-जैसे दीख रहे थे और घोड़े पर सवार थे। और यह भी कि ऐसे मामलों में हमें कैसा मनोभाव अपनाना चाहिये? निस्सन्देह, कोई डर नहीं होना चाहिये, लेकिन क्या कोई ऐसा विशेष तरीक़ा अपनाया जा सकता है जिसके द्वारा एक तरह का ऐसा गुह्यवादी कौशल विकसित किया जा सके कि हम मूर्तरूपधारी 'शक्ति' या 'सत्ता' के सच्चे स्वरूप को पहचान सकें?

मैंने जो मनोभाव अपनाया उसमें अगर कुछ भी ग़लत हो तो कृपा करके मुझे बतलाइये माँ।

तुम्हारा मनोभाव एकदम सही था और इस घटना के समय तुमने उत्तम मनोभाव अपनाया।

हो सकता है कि सभी रोगों के हर्ता, वे जुड़वाँ घुड़सवार, अश्विनीकुमार हों।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

१८ फ़रवरी १९५२

मेरी मधुर माँ,

पिछली रात, कुण्डलिनी के ऊपर उठने की अनुभूति के साथ, मैंने काफ़ी समय तक हृदय-चक्र के पास एक विशाल, महामहिम प्रकाशमान अर्धचन्द्र देखा। इस अनुभूति ने मेरी सत्ता को बल तथा आनन्द और एक गभीर सुखप्रद आराम की भावना प्रदान की।

इन चीज़ों की बारे में अब मैं आपको इसलिए लिख रहा हूँ क्योंकि अगर आपको

इसके बारे में कुछ कहना है, इसमें कुछ संशोधन करना या इसे ठीक स्थान पर बिठाना है तो कृपया आप मुझे दिशा-निर्देशन दे सकें।

यह बहुत ही अच्छी अनुभूति है, प्रकाशमान अर्धचन्द्र का अर्थ है—आध्यात्मिक प्रगति।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

१० नवम्बर १९५२

मेरी मधुर माँ,

कल पहली बार जाग्रत् अवस्था में, जब मैं रात को क़रीब ११.३० बजे कुर्सी पर बैठा हुआ था, मुझे कुण्डलिनी के ऊपर उठने की अनुभूति हुई। इसके लिए मैं बहुत समय से अभीप्सा कर रहा था, लेकिन एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा कर भी मैं पहले कभी इसमें सफल नहीं हुआ। 'शक्ति' हृदय-चक्र से मस्तिष्क में उठ रही थी और ऐसा तीन बार हुआ, प्रत्येक बार जब मैंने हृदय पर एकाग्रता जमायी, यह घटित हुआ। मैं कुछ-कुछ शरीर के अन्दर देख पा रहा था, यद्यपि था वह सब बहुत धुँधला और अपारदर्शी। इस सबके बीच मैंने मेज़ पर खुला हुआ क़लम और काग़ज़ भी देखा।

यह कोई नयी अनुभूति नहीं थी, लेकिन जिस चीज़ ने मुझे हर्षातिरेक से भर दिया वह यह थी कि पूरी तरह से जाग्रत् अवस्था में यह अनुभूति हुई। बल, आराम और एक आन्तरिक अचञ्चलता का भाव अब तक बना हुआ है। दिमाग़ ठण्डा है। लेकिन मुसीबत है विचारों के साथ। जब तक मन शान्त और अचञ्चल नहीं हो जाता, इसके प्रभाव बने नहीं रह सकते। स्वाभाविक रूप से उस समय मैंने आपको याद किया और बाद में आपसे प्रार्थना की। उसके बाद श्रीअरविन्द को अपनी प्रार्थना निवेदित करने के लिए मैं दो मिनट समाधि के पास बैठा और फिर सोने चला गया।

मैं बस आपको इसकी जानकारी देने के लिए यह सब लिख रहा हूँ माँ।

यह बहुत अच्छा है और निश्चित रूप से तुम्हारे शरीर की अवस्था पर भी इसके उत्तम परिणाम दीखेंगे।

मेरे आशीर्वादों के साथ।

(बिना तारीख़ का (१९५३?)

New Correspondences of the Mother पृ. ३६०-६९ **श्रीमाँ**

एकमेव तथा समान

श्रीमाँ के पथ और मेरे पथ में कोई अन्तर नहीं है। हम लोगों का पथ एक है और हमेशा एक ही रहा है, वह पथ जो अतिमानसिक रूपान्तर और भागवत सिद्धि की ओर ले जाता है। न केवल अन्त में, बल्कि आरम्भ से ही एक ही पथ रहा है।

इस तरह के विभाजन और विरोध को रखने का प्रयास करना, यानी श्रीमाँ को एक ओर और मुझे दूसरी ओर—एकदम विपरीत या एकदम भिन्न तरफ़—रखना, यह तो हमेशा 'मिथ्यात्व' की शक्तियों की चालाकी रही है जब वे किसी साधक को सत्य तक पहुँचने से रोकना चाहती हैं। अपने मन से इन सभी मिथ्यात्वों को निकाल बाहर करो।

यह जानो कि श्रीमाँ का प्रकाश और शक्ति 'सत्य' का प्रकाश और शक्ति हैं; हमेशा श्रीमाँ के प्रकाश और शक्ति के सम्पर्क में बने रहो, तभी तुम भागवत सत्य में विकसित हो सकते हो।
१० सितम्बर १९३१

> *मैं पूछना चाहता हूँ कि क्या श्रीमाँ का विचार करना भगवान् का विचार करना ही है। मैंने सोचा कि जिसे हम श्रीअरविन्द का प्रकाश या अतिमानसिक प्रकाश कहते हैं वह भगवान् की उपलब्धि की ओर ही ले जाता है, जब कि श्रीमाँ की उपलब्धि पाना परम चेतना की उपलब्धि पाने के समान है। ये पथ एक साथ चलते हैं और साथ ही परे अपनी भिन्नता भी बनाये रखते हैं। और अगर 'एकमेव' श्रीमाँ हैं तो क्या श्रीअरविन्द का प्रकाश किसी भिन्न वस्तु की ओर ले जाता है, जैसा कि उपनिषद् के आदर्शों में होता है—पुरुष की उपलब्धि की ओर, इत्यादि? ऐसा लगता है कि ये भेद हमेशा बने रहेंगे।*

मैंने एक बार पहले भी लिखा था कि श्रीमाँ तथा मेरे बारे में भिन्नता के ये विचार और यह मानना कि हमारे पथ या हमारे लक्ष्य अलग-अलग हैं—एकदम ग़लत है। हमारे पथ समान हैं; हमारा लक्ष्य भी समान है—वह है अतिमानसिक भगवान्।
२४ फ़रवरी १९३२

> *मैं भगवान् को आत्मा के रूप में हर जगह देखता हूँ, और वे मुझे अपनी ओर खींचते रहते हैं। वे सबकी आत्मा और सबके स्वामी हैं। मुझे लगता है कि वे श्रीमाँ से महानतर हैं। मुझे लगता है कि वे वह भगवान् हैं जिसने मेरे पिता—श्रीअरविन्द—में मूर्त रूप ले लिया है।*

यह भगवान् का एक पहलू है—लेकिन आत्मारूपी भगवान् और प्रभु तथा माँ के रूप में भगवान् एक ही हैं—कोई हीनतर या कोई महानतर नहीं है। ३१ मार्च १९३४

यहाँ पर कुछ लोग आपको माताजी से महानतर क्यों मानते हैं? क्या आप दोनों समान स्तर से नहीं हैं? क्या मनुष्य की आँखों पर एक परदा नहीं पड़ा है जो इस तरह के भेद करता है?

ये वे मन हैं जो केवल सतही चीज़ों को देखते हैं और उनके पीछे क्या है यह नहीं देख पाते।
२८ मार्च १९३५

मैं और श्रीमाँ एक और समान हैं। और साथ ही वे यहाँ परमा हैं और उनका अधिकार है कि वे कार्य के लिए जो उत्तम समझती हैं उस तरह कार्य की व्यवस्था करें। वे जो भी कार्य दें उस पर किसी को अपना अधिकार जमाने, किसी भी तरह का दावा करने या अपना स्वामित्व जताने का हक नहीं। आश्रम माँ की सृष्टि है और उनके बिना इसका कभी अस्तित्व नहीं होता। वे जो कार्य कर रही हैं वह उनका अपना सर्जन है, उन्हें वह दिया नहीं गया है और उनसे वह लिया नहीं जा सकता। अगर तुम्हारे अन्दर श्रीमाँ के साथ उचित सम्बन्ध बनाने और उनके प्रति उचित मनोवृत्ति रखने की इच्छा है तो इस प्राथमिक और मूलभूत सत्य को समझने का प्रयास करो। जून १९३५

श्रीमाँ श्रीअरविन्द[१] की शिष्या नहीं हैं। उन्हें मेरे समान ही सिद्धि और अनुभूति प्राप्त थी।

श्रीमाँ की साधना छोटी उम्र से ही आरम्भ हो गयी थी। जब वे १२ या १३ वर्ष की थीं तब प्रत्येक सन्ध्या अनेक गुरु उन्हें विविध आध्यात्मिक साधना सिखाने के लिए आते। उनमें से एक साँवली एशियाई आकृति थी। जब हम पहले-पहल मिले, तब उन्होंने तुरन्त साँवली एशियाई आकृति के रूप में मुझे पहचान लिया जिसे वे बहुत पहले देखा करती थीं। श्रीमाँ यहाँ आयें और एक समान लक्ष्य के लिए मेरे साथ कार्य करें, यह मानों एक भागवत विधान था। भारत आने के पहले ही श्रीमाँ बौद्ध योग और गीता-योग में सिद्धि प्राप्त कर चुकी थीं। उनका योग एक भव्य समन्वय की ओर बढ़ रहा था। उसके बाद यह स्वाभाविक था कि वे यहाँ आयें। मेरे योग को ठोस रूप देने में वे सहायता कर चुकी हैं और कर रही हैं। उनके सहयोग के बिना यह सम्भव नहीं हो पाता।

इस योग के दो बड़े चरणों में से एक है, श्रीमाँ[२] की शरण में जाना।
१७ अगस्त १९४१

CWSA खण्ड ३२, पृ. ८१-८२, ३६

[१] यह पत्र श्रीअरविन्द द्वारा लिखवाया गया था, उन्होंने स्वयं को अन्य पुरुष के रूप में सम्बोधित किया है। —सं.

[२] जब श्रीअरविन्द से बाद में प्रश्न किया गया कि दूसरा बड़ा चरण क्या है, तब उन्होंने कहा, "दिव्य-जीवन के लिए साधक की अभीप्सा।" —सं.

श्रीअरविन्दाश्रम

हमारा लक्ष्य न तो राजनीतिक है, न सामाजिक, वह आध्यात्मिक लक्ष्य है। हम जो चाहते हैं वह वैयक्तिक चेतना का रूपान्तर है, शासन या सरकार का परिवर्तन नहीं। उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए हम किसी मानव साधन पर विश्वास नहीं करते, चाहे वह कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो। हमें केवल 'भागवत कृपा' पर विश्वास है।

*

बाहरी रंग-रूप और नियम बदलते रहते हैं परन्तु हमारी श्रद्धा और हमारा लक्ष्य एक ही है।
३० अक्तूबर १९५४

*

यहाँ हमारे लिए केवल एक ही चीज़ का मूल्य है। हम भगवान् के लिए अभीप्सा करते हैं, भगवान् के लिए जीते हैं, भगवान् के लिए कार्य करते हैं।
जुलाई १९५६

*

मधुर माँ, हमें बतलाया गया है कि आश्रम में बच्चों के आने से पहले यहाँ की शर्तें कहीं अधिक कठोर थीं और अनुशासन बहुत कड़ा। परिस्थितियाँ क्यों और कैसे बदलीं?

बच्चों के आने से पहले, आश्रम में केवल उन्हीं लोगों को प्रवेश मिलता था जो साधना करना चाहते थे और केवल उन्हीं आदतों और क्रिया-कलाप को होने दिया जाता था जो साधना के अभ्यास में उपयोगी हों।

लेकिन चूँकि बच्चों से साधना करने की माँग करना नासमझी होगी, इसलिए जैसे ही आश्रम में बच्चों का प्रवेश हुआ, इस सख़्ती को ग़ायब हो जाना पड़ा।
जनवरी १९६१

*

"आश्रम का सच्चा बालक" कहलाने के लिए कौन-से गुण ज़रूरी हैं?

सच्चाई, साहस, अनुशासन, सहिष्णुता, भागवत कार्य में सम्पूर्ण श्रद्धा और 'भागवत कृपा' में अटूट विश्वास। इन सबके साथ निरन्तर, तीव्र और अध्यवसायपूर्ण अभीप्सा और असीम धैर्य होना चाहिये।
२८ दिसम्बर १९६६

*

हम अपने जीवन को आसान और आरामदेह बनाने के लिए यहाँ नहीं हैं; हम यहाँ भगवान् को खोजने के लिए, भगवान् बनने के लिए, भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए हैं।

हमारा क्या होता है यह भगवान् का काम है, हमारी चिन्ता नहीं।

भगवान् हमारी अपेक्षा ज़्यादा अच्छी तरह जानते हैं कि जगत् की और हमारी प्रगति के लिए क्या अच्छा है।

१९ अगस्त १९६७

*

आश्रम उनके लिए है जो अपने जीवन को भगवान् के अर्पण करना चाहते हों।

जून १९७१

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३ से

शरीर की साधना

हमारी सत्ता के प्रत्येक स्तर—मानसिक, प्राणिक, भौतिक—की एक अपनी चेतना है, पृथक्-पृथक् है पर परस्पर सम्बद्ध है और एक दूसरी पर क्रिया करती है। परन्तु हमारे बाहरी मन और इन्द्रिय के लिए, हमारे जाग्रत् अनुभव में, वे सभी चेतनाएँ एक दूसरी के साथ मिली-जुली हैं। उदाहरणार्थ, शरीर की एक अपनी चेतना है और उसी से वह कार्य करता है, हमारे मानसिक संकल्प के बिना भी या उस संकल्प के विरुद्ध भी कार्य करता है, और हमारा ऊपरी मन इस शरीर-चेतना के विषय में बहुत कम जानता है, केवल अपूर्ण रूप में ही उसे अनुभव करता है, केवल उसके परिणामों को ही देखता है और उनके कारणों का पता लगाने में बहुत अधिक कठिनाइयाँ झेलता है। योग का यह एक अंग है कि शरीर की इस पृथक् चेतना का ज्ञान प्राप्त किया जाये, इसकी गतियों को तथा अन्दर या बाहर से इस पर कार्य करने वाली शक्तियों को देखा और अनुभव किया जाये तथा इसकी अत्यन्त गुह्य और (हमारे लिए) अवचेतन प्रक्रियाओं को संयमित और परिचालित करना सीखा जाये। परन्तु स्वयं शारीर चेतना हमारे अन्दर की उस व्यक्तिभावापन्न भौतिक चेतना का केवल एक अंश है जिसे हम विराट् भौतिक प्रकृति की गुह्यतः सचेतन शक्तियों में से एकत्र करते और निर्मित करते हैं।

CWSA खण्ड २८, पृ. २०१

जहाँ तक (शरीर के) स्थूल जड़ भाग का प्रश्न है, उसका स्थान बताने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह बहुत स्पष्ट है; पर यह याद रखना चाहिये कि इसकी भी एक अपनी चेतना है, अंग-प्रत्यंगों, कोषों, तन्तुओं, गुत्थियों और इन्द्रियों की अपनी अन्ध चेतना है। इस अन्धकार को आलोकित करना और सीधे उच्चतर लोकों तथा दिव्य क्रियाओं का माध्यम बनाना हमारे योग में शरीर को सचेतन बनाना है,—अर्थात्, इसकी तमसाच्छन्न, सीमित अर्ध-अवचेतन स्थिति

के बदले इसे सच्ची, जाग्रत् और प्रत्युत्तरदायी सचेतनता से भर देना।

शरीर की चेतना का एक बहुत बड़ा भाग अवचेतन होता है और शरीर की चेतना और अवचेतना एक-दूसरे से बहुत क़रीबी रूप से जुड़ी हुई हैं। शरीर तथा भौतिक एक साथ मिलते नहीं हैं—शरीर की चेतना सम्पूर्ण भौतिक चेतना का बस एक हिस्सा होती है।
CWSA खण्ड २८, पृ. २०३, २०९

शरीर के साथ सबसे पहले करना यह चाहिये कि उसे 'शक्ति' की ओर उद्घाटित कर दो ताकि तुम बीमारी तथा थकान का सामना करने के लिए बल तथा शक्ति पा लो—जब ये चीज़ें आयें तो तुम्हारे अन्दर उनके प्रति प्रतिक्रिया करने, उन्हें निकाल बाहर फेंकने की शक्ति होनी चाहिये और तुम्हें शरीर में शक्ति का एक निरन्तर प्रवाह बनाये रखना चाहिये। अगर यह कर लिया जाये तो बाक़ी शारीरिक बदलाव अपने उचित समय पर हो जायेंगे और इसके लिए व्यक्ति प्रतीक्षारत रह सकता है।
CWSA खण्ड २८, पृ. ३०५

शारीर चेतना होती ही है और उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता, अतः व्यक्ति यह सोच कर कि शरीर के बारे में बाद में विचार करेगा, उसे एकदम से अछूता छोड़ कर न तो उच्चतर भागों को रूपान्तरित कर सकता है न ही अगले चरण पर जाने से पहले प्रत्येक स्तर को उसके सभी भागों में पूर्ण ही बना सकता है। मैंने वह तरीक़ा अपनाने की कोशिश की थी, लेकिन वह कभी सफल नहीं हुआ। मन तथा प्राण में अधिमानसिकभावापन्नता की प्रधानता का होना पहला चरण है, उदाहरण के लिए, अधिमानसिकभावापन्नता पाने के समय अगर शारीरिक चेतना अपनी सभी निम्न गतियों को बनाये रखे, यानी वे अधिमानसिक न बन जायें, तब तो प्रयास व्यर्थ होगा, क्योंकि तब तक कुछ नहीं हो सकता जब तक उन्हें अधिमानस के स्तर तक ऊपर नहीं खींचा जाता और तब तक कोई अधिमानसिक पूर्णता प्राप्त ही नहीं हो सकती और तब हमेशा शारीरिक चेतना दोषों और सीमाओं को लाती रहेगी। अधिमानस को पूर्ण बनाने के लिए व्यक्ति को अतिमानसिक शक्ति को पुकारना होगा और केवल तभी जब अधिमानस आंशिक रूप से अतिमानसिक हो जाता है कि शरीर अधिकाधिक अधिमानसिक बनता जाता है। इस प्रक्रिया से कतरा कर निकल जाने का मैं कोई रास्ता नहीं जानता, हालाँकि यही प्रक्रिया रास्ते को इतना लम्बा बना देती है।
CWSA खण्ड २८, पृ. ३०९

शरीर की पूर्णता ही, अभी हमें जो साधन प्राप्त हैं उनके द्वारा जितनी अधिक पूर्णता प्राप्त करना हमारे लिए सम्भव हो उतनी पूर्णता प्राप्त करना ही शारीरिक अनुशीलन का अन्तिम

उद्देश्य होना चाहिये। पूर्णता ही सब प्रकार के अनुशीलनों का, आध्यात्मिक और आन्तरात्मिक, मानसिक तथा प्राणिक अनुशीलनों का सच्चा उद्देश्य है और यही हमारे शारीरिक अनुशीलन का भी उद्देश्य होना चाहिये। अगर हम अपनी सत्ता की सर्वांगीण पूर्णता सिद्ध करने का प्रयास करते हों तो हम उसके भौतिक अंग की, शरीर की उपेक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि शरीर ही भौतिक आधार है, शरीर ही वह साधन है जिसका हमें उपयोग करना है।
CWSA खण्ड १३, पृ. ५२१-२२

शरीर की चेतना को विकसित करने के लिए शारीरिक शिक्षण सबसे अच्छा उपाय है और शरीर जितना अधिक सचेतन होगा, उतना ही अधिक उन भागवत शक्तियों के प्रति ग्रहणशील बन सकेगा जो उसे रूपान्तरित करने और एक नयी जाति को जन्म देने के लिए काम कर रही हैं।
'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ३०६

उदाहरणार्थ, शरीर पर भी, जब उस पर आक्रमण की तरह कुछ हो, जब उस पर कोई दुर्घटना, कोई रोग आदि आने की कोशिश करते हैं—कुछ भी—शरीर पर कोई भी आक्रमण, तो जो शरीर अपनी सहज प्राकृतिक अवस्था में रहने दिया गया है, उसमें सहायता पाने के लिए एक ललक, एक अभीप्सा, एक सहज संकल्प होता है। किन्तु ज्यों ही यह सारी बात मस्तिष्क तक पहुँचती है, वह उन्हीं चीज़ों का रूप ले लेती है जिनका व्यक्ति अभ्यस्त होता है : और तब सब कुछ बिगड़ जाता है। किन्तु शरीर के वास्तविक स्वरूप को देखा जाये तो पता लगेगा कि उसमें एक ऐसी वस्तु है जो अचानक ही जाग कर सहायता की पुकार करने लगती है, इतनी श्रद्धा के साथ, इतनी तीव्रता के साथ जैसे कोई छोटा बच्चा अपनी माँ को, या जो कोई भी वहाँ हो, उसे पुकारता है, यदि वह बोलना नहीं जानता तो कुछ कहता नहीं। किन्तु शरीर को यदि स्वयं उसी पर छोड़ दिया जाये और मन भी उस पर इस तरह का सतत कार्य न करता रहे तो... हाँ, तो शरीर में यह बात होती है : ज्यों ही उसमें कोई विक्षोभ पैदा होता है, तत्काल ही उसमें एक अभीप्सा, एक पुकार, सहायता पाने के लिए एक प्रयत्न जाग उठता है, और इसमें बहुत शक्ति होती है। यदि इसमें कोई हस्तक्षेप न करे, तो उसमें बहुत शक्ति होती है, मानों स्वयं शरीर के कोषाणु ही अभीप्सा और पुकार के लिए उछल पड़े हों।

शरीर में बहुत ही अमूल्य और अज्ञात निधियाँ भरी हैं। उसके सभी कोषाणुओं में जीवन की, अभीप्सा की, विकास के लिए संकल्प की तीव्रता होती है जिसे मनुष्य साधारणतया अनुभव तक नहीं करता। जब शरीर-चेतना मन और प्राण की क्रिया के कारण पूरी तरह विकृत हो गयी हो तभी वह सन्तुलन को वापस लाने के लिए तुरन्त संकल्प नहीं करती। जब यह संकल्प-शक्ति न हो, तो इसका अर्थ है कि सारी शरीर-चेतना ही मन और प्राण के हस्तक्षेप के कारण बिगड़ चुकी है। जो लोग अधिकतर अवचेतन रूप में अपने रोग को इस कारण पोसते हैं—और यह एक अस्वस्थ प्रवृत्ति है—कि लोग उनमें रुचि लेने लगें तो इसमें उनके शरीर का दोष नहीं

होता—बेचारा शरीर!—यह ऐसी चीज़ होती है जिसे उन्होंने मानसिक और प्राणिक विकृति के रूप में शरीर पर लादा है। शरीर को स्वयं उसी पर छोड़ दिया जाये तो वह विलक्षण है, क्योंकि, वह समता एवं स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए केवल अभीप्सा ही नहीं करता, बल्कि अपने अन्दर सन्तुलन भी स्थापित कर सकता है। यदि व्यक्ति अपने शरीर को अकेला छोड़ दे और समस्त विचारों, प्राणिक प्रतिक्रियाओं, अवसादों, तथाकथित ज्ञान, मानसिक रचनाओं और भयों को उसमें हस्तक्षेप न करने दे—शरीर को स्वयं उसी पर छोड़ दे, तो वह स्वाभाविक रूप में ही अपने-आपको स्वस्थ करने के लिए वह सब कुछ कर लेगा जो उसके लिए आवश्यक है।

अपनी स्वाभाविक अवस्था में, शरीर सन्तुलन को, सामञ्जस्य को ही पसन्द करता है; यह तो सत्ता के दूसरे भाग हैं जो सब कुछ बिगाड़ देते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. १५९-६१

इस तर्क (यह कि अतिमानसभावापन्नता के बाद भी शरीर पर गम्भीर प्रहारों का होना सम्भव होगा) की भ्रान्त धारणा शुरू से ही चले आये इस आधार पर स्थित है कि अतिमानसभावापन्नता प्राप्त हो जाने पर भी मुसीबतें और प्रहार जारी रहेंगे। अतिमानसिक चेतना में ऐसे प्रहारों का होना सम्भव ही नहीं है—एक ही चेतना तथा शरीर में अतिमानस तथा निम्न अन्धकार दोनों का सहवास सम्भव ही नहीं। ठीक यही कारण है कि शारीरिक चेतना की अतिमानसभावापन्नता को ही सफल रूपान्तरण की शर्त के रूप में रखा गया है। अगर प्रहार जारी रहें और अन्दर सफलतापूर्वक आ सकें तो इसका अर्थ यही है कि अभी तक शारीरिक चेतना रूपान्तरित नहीं हुई है।

CWSA खण्ड २८, पृ. ३०९ **श्रीअरविन्द**

"मैं तुम्हारे साथ हूँ"

"मैं तुम्हारे साथ हूँ।" इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

जब हम प्रार्थना करते हैं या किसी समस्या को लेकर अपने अन्दर जूझते हैं, तो क्या हमारे अनाड़ीपन और अपूर्णता के बावजूद, हमारी दुर्भावना और भ्रान्ति के बावजूद हमारी सुनवाई होती है? और कौन सुनता है? आप जो हमारे साथ हैं?

और आप अपनी परम चेतना में, निर्गुण भागवत शक्ति, योग-शक्ति के रूप में या भौतिक चेतना सहित सशरीर माताजी के रूप में? एक व्यक्तिगत उपस्थिति जो वास्तव में प्रत्येक विचार और प्रत्येक क्रिया को जानती है, जो कोई अनाम शक्ति नहीं है? क्या आप हमें यह बतला सकती हैं कि आप हमारे अन्दर कैसे, किस तरह विद्यमान हैं?

कहा जाता है कि आपकी और श्रीअरविन्द की चेतना एक ही है, लेकिन क्या आपकी और श्रीअरविन्द की वैयक्तिक उपस्थिति दो अलग चीज़ें हैं जो अपनी-अपनी विशिष्ट भूमिका निभाती हैं?

मैं तुम्हारे साथ हूँ क्योंकि मैं तुम हूँ या तुम मैं हो।

मैं तुम्हारे साथ हूँ, इसके बहुत सारे अर्थ होते हैं, क्योंकि मैं सभी स्तरों पर, सभी भूमिकाओं में, परम चेतना से लेकर मेरी अत्यन्त भौतिक चेतना तक तुम्हारे साथ हूँ। यहाँ, पॉण्डिचेरी में, तुम मेरी चेतना को अन्दर लिये बिना श्वास भी नहीं ले सकते। वह सूक्ष्म भौतिक में सारे वातावरण को लगभग भौतिक रूप में भरे हुए है, और यहाँ से दस किलोमीटर दूर झील तक ऐसा है। उसके आगे, मेरी चेतना को भौतिक प्राण में अनुभव किया जा सकता है, उसके बाद मानसिक स्तर पर तथा अन्य उच्चतर स्तरों पर हर जगह। जब मैं यहाँ पहली बार आयी थी तो, मैंने भौतिक रूप से दस किलोमीटर नहीं, दस समुद्री मील की दूरी से श्रीअरविन्द के वातावरण का अनुभव किया था। वह एकदम अचानक, बहुत ठोस रूप में, एक शुद्ध, प्रकाशमय, हलका, ऊपर उठाने वाला वातावरण था।

बहुत समय पहले श्रीअरविन्द ने आश्रम में हर जगह यह अनुस्मारक लगवा दिया था जिसे तुम सब जानते हो : "हमेशा ऐसे व्यवहार करो मानों माताजी तुम्हें देख रही हैं, क्योंकि, वास्तव में, वे हमेशा उपस्थित हैं।"

यह केवल एक वचन नहीं है, कुछ शब्द नहीं हैं, यह एक तथ्य है। मैं तुम्हारे साथ बहुत ठोस रूप में हूँ और जिनमें सूक्ष्म दृष्टि है वे मुझे देख सकते हैं।

सामान्य रीति से मेरी 'शक्ति' हर जगह कार्यरत है, वह हमेशा तुम्हारी सत्ता के मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को इधर-उधर हटाती और नये रूप में रखती तथा तुम्हारे सामने तुम्हारी प्रकृति के नये-नये रूपों को निरूपित करती रहती है ताकि तुम देख सको कि क्या-क्या बदलना, विकसित करना या त्यागना है।

इसके अलावा, मेरे और तुम्हारे बीच एक विशेष सम्बन्ध है, उन सबके साथ जो मेरी और श्रीअरविन्द की शिक्षा की ओर मुड़े हुए हैं—और, यह भली-भाँति जानी हुई बात है कि इसमें दूरी से कोई अन्तर नहीं पड़ता, तुम फ़्रांस में हो सकते हो, दुनिया के दूसरे छोर पर हो सकते हो या पॉण्डिचेरी में, यह सम्बन्ध हमेशा सच्चा और जीवन्त रहता है। और हर बार जब पुकार आती है, हर बार जब इसकी ज़रूरत हो कि मुझे पता लगे ताकि मैं एक शक्ति, एक प्रेरणा या रक्षण या कोई और चीज़ भेजूँ, तो अचानक मेरे पास एक सन्देश-सा आता है और मैं जो ज़रूरी होता है वह कर देती हूँ। यह तो स्पष्ट है कि ये सन्देश मेरे पास किसी भी समय पहुँचते रहते हैं, और तुमने कई बार मुझे अचानक किसी वाक्य या काम के बीच रुकते देखा होगा; यह इसलिए कि कोई चीज़ मेरे पास आती है, कोई सन्देश आता है और मैं एकाग्र हो जाती हूँ।

जिन लोगों को मैंने शिष्य-रूप में स्वीकार लिया, जिन्हें "हाँ" कह दी है, उनके साथ सम्बन्ध से बढ़ कर कुछ और होता है, उनके साथ मुझसे निकला कुछ अंश रहता है। जब कभी ज़रूरत हो तो यह अंश मुझे चेतावनी देता है और मुझे बतलाता है कि क्या हो रहा है। वास्तव में मुझे सारे समय सूचनाएँ मिलती रहती हैं, परन्तु मेरी सक्रिय स्मृति में वे सब अंकित नहीं होतीं। तब तो मेरे अन्दर बाढ़ आ जायेगी; भौतिक चेतना फ़िल्टर या छन्ने का काम करती है। चीज़ें एक सूक्ष्म स्तर पर अंकित होती हैं, वे वहाँ अव्यक्त अवस्था में रहती हैं, मानों कोई संगीत ध्वन्यांकित तो कर लिया गया हो पर बजाया न गया हो, और जब मुझे अपनी भौतिक चेतना में कुछ जानने की ज़रूरत होती है, तो मैं इस सूक्ष्म भौतिक स्तर के साथ सम्पर्क जोड़ती हूँ और रेकॉर्ड बजने लगता है। तब मैं देखती हूँ कि चीज़ें कैसी हैं, समय के साथ उनका क्या विकास हुआ और उनका वास्तविक परिणाम क्या है। और अगर किसी कारण से तुम मुझे चिट्ठी लिखो और मेरी सहायता माँगो और मैं उत्तर दूँ "मैं तुम्हारे साथ हूँ", तो इसका मतलब यह है कि तुम्हारे साथ की सञ्चार-व्यवस्था सक्रिय हो गयी है, तुम कुछ समय के लिए, जितने समय के लिए ज़रूरी हो, मेरी सक्रिय चेतना में आ जाते हो।

और मेरे और तुम्हारे बीच का यह सम्बन्ध कभी नहीं टूटता। ऐसे लोग हैं जिन्होंने विद्रोह की अवस्था में बहुत पहले आश्रम छोड़ दिया था, और फिर भी मैं उनके बारे में टोह लेती रहती हूँ, उनकी देखभाल करती हूँ। तुम्हें कभी ऐसे ही छोड़ नहीं दिया जाता।

सच तो यह है कि मैं अपने-आपको हर एक के लिए ज़िम्मेदार मानती हूँ, उनके लिए भी जिनसे मैं अपने जीवन में बस निमिषमात्र के लिए ही मिली हूँ।

यहाँ एक बात याद रखो। श्रीअरविन्द और मैं एक ही हैं, एक ही चेतना हैं, एक और अभिन्न व्यक्ति हैं। हाँ, जब यह शक्ति या यह उपस्थिति, जो एक ही है, तुम्हारी वैयक्तिक चेतना में से गुज़रती है, तो वह एक रूप, एक आकार धारण कर लेती है जो तुम्हारे स्वभाव, तुम्हारी अभीप्सा, तुम्हारी आवश्यकता, तुम्हारी सत्ता के विशेष मोड़ के अनुसार होता है। तुम्हारी वैयक्तिक चेतना, यह कहा जा सकता है, एक छन्ने या एक सूचक की तरह होती है जो अनन्त दिव्य सम्भावनाओं में से एक सम्भावना को चुन कर निश्चित कर लेती है। वस्तुतः भगवान् हर एक व्यक्ति को वही देते हैं जिसकी वह उनसे आशा करता है। अगर तुम यह मानते हो कि भगवान् बहुत दूर और क्रूर हैं, तो वे दूर और क्रूर होंगे, क्योंकि तुम्हारे चरम कल्याण के लिए यह ज़रूरी होगा कि तुम भगवान् के कोप का अनुभव करो; काली के पुजारियों के लिए वे काली होंगे और भक्तों के लिए 'परमानन्द'। और ज्ञानपिपासु के लिए वे 'सर्वज्ञान' होंगे, मायावादियों के लिए परात्पर 'निर्गुण ब्रह्म'; नास्तिक के साथ वे नास्तिक होंगे और प्रेमी के लिए प्रेम। जो उन्हें हर क्षण, हर गति के आन्तरिक निदेशक के रूप में अनुभव करते हैं उनके लिए वे बन्धु और सखा, हमेशा सहायता करने के लिए तैयार, वफ़ादार दोस्त रहेंगे। और अगर तुम यह मानो कि वे सब कुछ मिटा सकते हैं, तो वे तुम्हारे सभी दोषों, तुम्हारी सभी भ्रान्तियों को, बिना थके, मिटा देंगे, और तुम हर क्षण उनकी अनन्त 'कृपा' का अनुभव कर सकोगे।

वस्तुतः भगवान् वही हैं जो तुम अपनी गहरी-से-गहरी अभीप्सा में उनसे आशा करते हो।

और जब तुम उस चेतना में प्रवेश करते हो जहाँ तुम सभी चीज़ों को एक ही दृष्टि में देख सको, मनुष्य और भगवान् के बीच सम्बन्धों की अनन्त बहुलता को देख सको, तो तुम देखते हो कि यह सब अपने पूरे विस्तार में कैसा अद्‌भुत है। अगर तुम मानवजाति के इतिहास को देखो तो तुम्हें पता चलेगा कि मनुष्य जो समझे हैं, उन्होंने जिसकी इच्छा और आशा की है, जिसका स्वप्न लिया है, उसके अनुसार भगवान् कितने विकसित हुए हैं। वे किस तरह जड़वादी के साथ जड़वादी रहे हैं और हर रोज़ किस तरह बढ़ते जाते हैं और जैसे-जैसे मानव-चेतना अपने-आपको विस्तृत करती है वे भी दिन-प्रतिदिन निकटतर और अधिक प्रकाशमान होते जाते हैं। हर एक चुनाव करने के लिए स्वतन्त्र है। सारे संसार के इतिहास में मनुष्य और भगवान् के सम्बन्ध की इस अनन्त विविधता की पूर्णता एक अकथनीय चमत्कार है। और यह सब मिला कर भगवान् की समग्र अभिव्यक्ति के एक क्षण के समान है।

भगवान् तुम्हारी अभीप्सा के अनुसार तुम्हारे साथ हैं। स्वभावतः, इसका यह अर्थ नहीं है कि वे तुम्हारी बाह्य प्रकृति की सनकों के आगे झुकते हैं—यहाँ मैं तुम्हारी सत्ता के सत्य की बात कह रही हूँ। और फिर भी, कभी-कभी भगवान् अपने-आपको तुम्हारी बाहरी अभीप्सा के अनुसार गढ़ते हैं, और अगर तुम, भक्तों की तरह, बारी-बारी से मिलन और बिछोह में, आनन्द की पुलक और निराशा में रहते हो, तो भगवान् भी तुमसे, तुम्हारी मान्यता के अनुसार, बिछुड़ेंगे और मिलेंगे। इस भाँति मनोभाव, बाहरी मनोभाव भी, बहुत महत्त्वपूर्ण है। लोग यह नहीं जानते कि श्रद्धा कितनी महत्त्वपूर्ण है, कितना बड़ा चमत्कार है, चमत्कारों को जन्म देने वाली है। अगर तुम यह आशा करते हो कि हर क्षण तुम्हें ऊपर उठाया जाये और भगवान् की ओर खींचा जाये, तो वे तुम्हें उठाने आयेंगे और वे बहुत निकट, निकटतर, सदैव निकट होंगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ७५-७९

श्रीअरविन्द के उत्तर
(८६)

किसी का यह मतलब नहीं है कि श्रीमाँ जान-बूझकर साधकों को सताया करती हैं या उनके अन्दर अशुभ चीज़ें रखती हैं। लेकिन फिर ठीक प्रणाम के बाद ये सारी चीज़ें इतने तीव्र रूप में क्यों आती हैं और ज़्यादातर तब जब वे अपनी मुस्कान का अन्दाज़ या हमारे मस्तक पर अपना वरद हस्त रखने का तरीक़ा बदल देती हैं? आप यह नहीं कह सकते कि माँ इसके प्रति अचेतन हैं! परिणाम-स्वरूप, वे किसी-किसी दिन हमें सता कर थकान की हद तक पहुँचा देती हैं, और उस दौरान उनके मुख से एक भी सौहार्द-भरा शब्द नहीं निकलता, न ही उन्हें इस बात की ज़रा भी परवाह होती है कि हम जीते हैं या मरते हैं। और अगले दिन ऐसा लगता है मानों उसके पहले दिन कुछ हुआ ही न हो, वे अपनी वही सामान्य मधुर मुस्कान बिखेरती हैं, बहुत ध्यान देती हैं लेकिन, क्लान्ति की अवस्था तक रोने के बाद न उनकी उस मुस्कान का हम पर कोई असर होता है न उनके उस ध्यान देने का। हाँ, हमें तो बस रो-रोकर जीना है। कम-से-कम कुछ लोगों के अन्दर तो रोने के बाद ख़ुश रहने और हँसने का गुर है, मेरे अन्दर से तो वह भी चला गया है। बस शाश्वत उदासी की एक परछाईं बस गयी है और मैं न इस तरफ़ जा सकता हूँ न उस तरफ़।

मैं फिर से दोहरा रहा हूँ कि यह एकदम से झूठी बात है कि माँ लोगों को "सताती" हैं। तुम उनकी मुस्कान के अंदाज़ और उनके वरद हस्त रखने की भंगिमा के बदलाव पर आपत्ति उठाते हो, इसका तो यही मतलब निकलता है कि उन्हें हमेशा यन्त्र की तरह एक-सरीखा व्यवहार करना चाहिये—और अगर वे वैसा नहीं करतीं तो उनके बदलाव के पीछे ज़रूर कोई-न-कोई विरोधी अर्थ छिपा होगा। और फिर, जब वे सामान्य मुस्कान के साथ तुम्हारा अभिवादन करती हैं तब भी तुम उतना ही नाख़ुश होते हो! अगर प्रणाम के बाद इतनी "चीज़ें" होती हैं तो एकदम स्पष्ट है कि यह तुम्हारी अपनी ग़लत प्रतिक्रिया है जो प्रणाम के समय वे जो कुछ भी करती हैं उस पर तुम्हारी अपनी मानसिक रचनाओं को थोपने का दबाव डालती है। मैंने तुमसे और उन सबसे जो इस ग़लती के गड्ढे में गिर गये थे कहा था कि ऐसी रचनाएँ एकदम से वाहियात और हानिकारक हैं, क्योंकि माँ का ऐसा कोई अभिप्राय नहीं है और न ही इन चीज़ों के लिए उनके मन में कोई अलग अर्थ होता है। अगर तुम मुझ पर विश्वास करने से इनकार कर दो तो मुझे मालूम नहीं कि मैं क्या कर सकता हूँ या माँ ही क्या कर सकती हैं भला। लेकिन अब मैं यह कहने के लिए बाध्य होऊँगा कि जितना भी तुम अपनी इन रचनाओं पर

ज़ोर दोगे उतनी ही दुःख-दर्द की प्रतिक्रिया तुम्हारा पीछा करेगी, यह माँ द्वारा नहीं बल्कि सचमुच सारा-का-सारा ख़ुद तुम्हारे द्वारा रचा हुआ है।

अगर यह सारी तकलीफ़ इसलिए हो रही है कि तुम्हारा भौतिक प्राण एकाकीपन का अनुभव कर रहा है और तुम उसे सह नहीं पा रहे या अगर तुम्हें ऐसा लग रहा है कि सहानुभूति और सहारे के दो शब्द भी कोई तुमसे नहीं कह रहा तब तो तुम्हें दूसरों के साथ सम्पर्क न रखने की बात नहीं करनी चाहिये या एकदम से अलग-थलग नहीं रहना चाहिये—न ही तुम्हें किसी ऐसी तपस्या पर ज़ोर देना चाहिये जिसे तुम्हारी प्रकृति स्वीकार न करती हो और जिसे तुम्हारी साधना को विक्षुब्ध किये बिना किया जा सकता हो। कामुक-विनिमय से पूरी तरह दूर रहना चाहिये, क्योंकि यह हमेशा तुम्हारे और दूसरों के लिए हानिकारक रहा है, और जो हमेशा अशान्ति, अस्वस्थता और परेशानी में ही डालता है। लेकिन दूसरे मामलों में ज़ोर-ज़बरदस्ती करने का कोई फ़ायदा नहीं जहाँ तुम विकट परिणामों के बिना एक या दूसरी चीज़ कर सको। तपस्या अच्छी है, लेकिन केवल तभी जब उसे करने की दृढ़ इच्छा हो या ऐसी प्रबल प्रेरणा हो जिसकी अनुमति तुम्हारी प्रकृति भले पूरे तौर पर न सही, फिर भी मुख्य रूप में देती हो।

> *शान्ति के साथ मैंने फ़्रेंच में भूगोल पढ़ना शुरू किया है। उसके अन्दर तो प्रारम्भिक बोध तक नहीं है, और गणित में वह त्रिक् नियम तक को नहीं जानता। १६-१७ वर्षीय के लिए यह अज्ञान भयंकर है। निश्चित रूप से, रामकृष्ण इसे अज्ञान नहीं मानेंगे जब तक कि व्यक्ति भगवान् की ओर मुड़ा हुआ हो; और "माँ के वार्तालाप" तथा "प्रार्थनाएँ" समझा सके। इस दूसरी चीज़ के बारे में न जानना और गणित के बारे में सब कुछ जान लेना तो कहीं बड़ा अज्ञान होगा।*

लेकिन प्रारम्भिक गणित न जानना व्यर्थ का अज्ञान है। "वार्तालाप" तथा "प्रार्थनाएँ" समझा सकना बहुत अच्छी बात है, लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि बाक़ी को क्यों छोड़ दिया जाये। अगर व्यक्ति को रामकृष्ण-जैसी उपलब्धि प्राप्त हो गयी हो तो एकदम अलग बात है। शान्ति या रोमेन जैसे ये लोग, जो बहुत छोटी अवस्था में आश्रम आ गये, उन्होंने यह सब सीखने से मना कर दिया क्योंकि घर में या विद्यालय में जैसे बच्चों को बड़ा किया जाता है, वैसा अनुशासन इन पर कभी न लगा, उन्हें तो जो अच्छा लगा उन्होंने बस वही सीखा। मुझे इसका परिणाम शोचनीय लगता है, ज़्यादा इसलिए कि उनका व्यक्तित्व और उनकी बुद्धिमत्ता सामान्य से अधिक है, और उन्हें और बच्चों से कम नहीं बल्कि ज़्यादा ही सीखना चाहिये था।
५ जून १९३५

> *तीन-चार लोगों को छोड़ कर न मैं किसी से अलग रहता हूँ, न मैं तपस्या में रत हूँ। मैं दूसरों से कतराता नहीं हूँ, और न मैं ऐसा कुछ करता हूँ जिसे तपस्या कहा*

जा सके। बल्कि उसे तो तपस्या का अभाव कहा जा सकता है, और इसी वजह से मेरे इतने सारे पतन हुए। रही बात कामुक-विनिमय की, तो स्वाभाविक है कि उनसे बचने के अलावा और कोई चारा नहीं है, और इसे मैं अलगाव के रूप में अनुभव नहीं करता। भले प्राणिक भौतिक ऐसा अनुभव भी करे, मैं किसी भी तरह के कामुक-आदान-प्रदान की अनुमति नहीं देता। लेकिन कुछ दूसरी चीज़ें भी हैं जिन्हें आदतन मेरे लिए करना असम्भव हो गया है और वे भी मुझे कामुक-सम्पर्क की तरह बेचैन बना देती हैं, जैसे साधारण किताबें पढ़ना। बहरहाल, मैं यह देखूँगा कि ज़्यादा लोगों से मेल-जोल बढ़ा कर क्या मेरी यह कठिनाई हल हो जायेगी। मैं ऐसे साधकों की खोज में हूँ जिनके साथ मैं बिना किसी परेशानी के घुल-मिल सकूँ—साँची, वेंकटरमण, संजीवन के बारे में आपकी क्या राय है?

निस्सन्देह, अगर तुम लोगों से निर्बाध रूप से मिल रहे हो तो तपस्या कारण नहीं हो सकती —तुम्हारी कुछ बातों से ऐसा लगा मानों भौतिक प्राण एकाकी अनुभव कर रहा था और इससे वह कुढ़ रहा था। तुमने जिन लोगों के नाम सुझाये उनके बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता। हर एक की अपनी अच्छी और बुरी चीज़ें होती हैं (बुरी से मेरा मतलब मिलने-जुलने के दृष्टिकोण से है), निश्चित रूप से जो चीज़ें परेशान करें उन्हें बिलकुल नहीं करना चाहिये।

तुलसी ने मेरे पास आकर पूछा कि मेरे लिए उसके साथ अनुवाद का काम जारी रखना सम्भव होगा क्या। मैंने उससे कहा कि मेरे लिए यह अनुकूल नहीं है क्योंकि मैं रात को जल्दी सोना चाहता हूँ। वह सभी सम्भव दलीलें देने लगा मानों अनुवाद का काम मैंने शुरू किया हो और अब चूँकि एक बार इसका आरम्भ हो गया तो इसे समाप्त करना ही चाहिये। मेरे तर्कों के बावजूद और अन्ततः यह कहने पर भी कि चूँकि यह मुझे श्रीमाँ द्वारा नहीं दिया गया है, मैं बहुत सुखद अनुभव नहीं कर रहा हूँ, वह मेरे साथ ऐसे बहस करने लगा मानों सारा मामला किसी व्यापार की तरह सुलझाया जा सकता है। आख़िरकार मैं क्षोभ की पराकाष्ठा पर पहुँच गया और मैंने अपने कान पकड़ कर उससे कहा कि यह काम जारी न रखने की बात कह कर मैं बड़ी भारी ग़लती कर बैठा। डाहीबेन या दूसरों के लिए काम करने पर (वह उन्हीं के लिए मेरे साथ अनुवाद कर रहा है), वह उन्हें समर्पित होता है, हाँ, अगर माँ के द्वारा काम का शुभारम्भ किया गया हो तो दूसरी बात है—इतने सरल सिद्धान्त को मैं उसे कैसे समझाऊँ भला? और भले माँ ने इसे करने की अनुमति दी हो, क्या इसे करने की सचमुच कोई आवश्यकता है? अगर यह उन लोगों को समझाने का प्रश्न हो या यह उनके लिए ज़रूरी हो, तो माँ मुझे या तुलसी से यह करने को नहीं कहेंगी, बल्कि अम्बालाल से कहेंगी—क्योंकि यह उसका क्षेत्र है।

समाप्त! भला मैं इस मामले में इतनी दिलचस्पी क्यों रखूँ? लेकिन यह सब मैं उसे कैसे समझाऊँ? इससे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह बात है कि मैं उससे कैसे कहूँ कि आजकल मैं एक कच्चे धागे से झूल रहा हूँ, और मुझे ख़ुद अपने ही भविष्य के बारे में कुछ नहीं पता? मेरे हट जाने से वह बहुत निराश हो जायेगा, क्योंकि वह और किसी से अनुवाद के कार्य के लिए पूछना नहीं चाहता। क्या यह सचमुच उपयोगी है कि मैं उसके साथ अनुवाद का काम जारी रखूँ या फिर कम-से-कम उसका अनुवाद देख लिया करूँ?

हाँ, तो इन मामलों में हमारा नियम यह है कि अगर कोई साधक या साधिका किसी दूसरे को कोई भाषा सिखा रहा हो, अनुवाद में मदद कर रहा हो, कशीदाकारी इत्यादि सिखा रही हो तो हम उन्हीं पर छोड़ देते हैं कि वे आपस में ही व्यवस्था कर लें, और जब वे अनुमति चाहते हैं तो हम दे देते हैं। यह पूरी तरह से सिखाने वाले साधक या साधिका पर निर्भर करता है कि वह अपनी सहायता दे या देना बन्द कर दे—सीखने वाला कोई दावा नहीं कर सकता। मुझे मालूम नहीं कि क्या तुम्हारी सहायता तुलसी के लिए आवश्यक है—कुछ उपयोगी शायद हो। अगर ऐसा है और यह चीज़ तुम्हें परेशानी में नहीं डालती या सताती नहीं, (यह बहुत महत्त्वपूर्ण है) तो मैं बस यही सलाह दे सकता हूँ कि तुम इसे जारी रखो या फिर उसका अनुवाद देख लिया करो।

६ जून १९३५

काम के समय जब मैं पढ़ता नहीं हूँ—जैसी कि अब मैं कोशिश कर रहा हूँ—तो न जाने कितने ही फुटकर विचार मेरे मन में चक्कर लगाते रहते हैं। ख़ास तौर पर तब जब काम ऐसा न हो जिसमें मैं डूबा रह सकूँ, तब मेरी चेतना की अवस्था उससे बदतर होती है जब मैं काम के समय पढ़ा करता था, क्योंकि तब कामुक-कल्पनाओं से मेरा मन हटा रहता था। दूसरी ओर, पढ़ाई मुझे दूसरी तरह से परेशान करती है—मैं इसलिए बेचैनी का अनुभव करता हूँ क्योंकि काम के समय पढ़ना उचित नहीं है। इसलिए मैं अपने-आप को ऐसी उलझन में जकड़ा पाता हूँ जहाँ से क़दम-भर भी नहीं हिल पाता।

अगर ऐसी बात है तो पढ़ना बेहतर है; और चूँकि माँ ने तुम्हें इसकी छूट दी है, अनुचित के विचार को अब हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। क्रिया के इन छोटे-मोटे ब्योरों को अन्दर दबा कर केवल तभी रखा जा सकता है जब तपस्या करने की इच्छा प्रबल हो और विरोधी कमज़ोर। लेकिन अगर न पढ़ना ख़ालीपन की ऐसी अवस्था में पहुँचा देता है जिसमें अवाञ्छनीय विचारों के चंगुल में तुम फँस जाते हो तो फिर पढ़ना ही ठीक रहेगा। तपस्या केवल तभी सफल होती

है जब वह ऐसी चेतना की रचना कर लेती है जो स्वाभाविक रूप से उन चीज़ों का परित्याग कर देती है, तब व्यक्ति ने जिस चीज़ को न करने का निश्चय कर लिया हो उसे फिर अपने अन्दर दबा देने की उसे ज़रूरत नहीं पड़ती, तब वह न उस चीज़ की कोई परवाह करता है, न वह करने की उसे कोई आवश्यकता ही रहती है। लेकिन यह चीज़ तपस्या के अलावा अन्य तरीक़ों से भी आ सकती है, उदाहरण के लिए, ऊपर से चेतना के अवतरण द्वारा। किसी दूर की तपस्या से कहीं अधिक उस अवतरण पर अपना ध्यान केन्द्रित करना ज़रूरी है।

केवल पढ़ना इन चीज़ों के आने को रोक नहीं पायेगा। भौतिक मन पढ़ने में लगा रह सकता है और दूसरे विचार पृष्ठभूमि में चलते रह सकते हैं। पढ़ना छोड़ दो और तुम जहाँ थे वहीं बने रहोगे। और फिर, न पढ़ना मेरे लिए तपस्या बिलकुल नहीं है। मैंने ख़ुशी-ख़ुशी पढ़ने का काम लिया है और देखा कि पढ़ना कोई आवश्यकता नहीं है। बात यह है कि प्राण कुछ चाहता है—या तो वह कामुक-सम्पर्क या कामुक-क्रिया में भटकता रहता है, विशेषकर दूसरी चीज़ में, और उसे वह बड़ी ख़ुशी के साथ स्वीकार करेगा, भले किसी के भी साथ कोई संसर्ग न हो। कैसे भला पढ़ना, न पढ़ना, कम खाना, ज़्यादा खाना इस समस्या को सुलझा सकता है? किसी बिन्दु पर कामुक-क्रिया की आवश्यकता होती है—और तब संघर्ष होता है। सम्पर्क या अ-सम्पर्क दोनों ही इस भावना के लिए उतावले रहते हैं, और व्यक्ति बस तब तक इन्हें क्रिया की अनुमति देने से रोक सकता है जब तक कि उसके लिए इन पर लगाम लगाना असम्भव ही न हो जाये।

निस्सन्देह सेक्स की समस्या इन तरीक़ों से सुलझायी नहीं जा सकती—विशेषकर खाने, न खाने से इस पर एकदम कोई असर नहीं पड़ता। पढ़ना बस कुछ समय के लिए मन को उससे दूर रखता है। स्वयं प्राण में कोई ऐसी चीज़ होनी चाहिये जिसे "नहीं" कहना सीखना चाहिये, ख़ासकर तब जब उसे लगे कि वह "प्रायः असम्भव" अवस्था के कगार पर पहुँच गया है।

मन—क्या चाहते हो तुम?
प्राण—विशेष कुछ नहीं।
मन—क्या तुम श्रीमाँ से प्रेम करते हो?
प्राण—अगर मैं साथ-साथ उन चीज़ों का भी भोग कर सकूँ जिनका मैं किया करता था तो मेरा उत्तर है हाँ। अगर यह केवल माँ से माँ के लिए प्रेम करने की बात है तो नहीं।
मन—कौन सी चीज़ है जिसका तुम यहाँ आनन्द उठा रहे हो? तुम्हें खाने को अच्छी-अच्छी चीज़ें मिलती हैं, जीने का बढ़िया तरीक़ा है, तुम्हें व्यस्त रखने के

लिए तुम्हारे पास काफ़ी काम है, भली संगत है; इत्यादि, इत्यादि।
प्राण—हाँ, यह सब तो है। लेकिन ऐसी भी चीज़ें हैं जो यहाँ नहीं हैं। मेरे पास पढ़ने के लिए उपन्यास नहीं हैं, सिनेमा नहीं, ताकने या स्पर्श करने के लिए कोई स्त्री नहीं, बार-बार जाने के लिए कोई होटल, चाय-पानी नहीं, प्रेम-पत्र नहीं, बच्चे नहीं जिनके साथ खेला जा सके—कितने सारे 'नहीं, नहीं' हैं यहाँ!
मन—ये सब नहीं पाकर तुम खोते क्या हो भला?
प्राण—इनके सिवाय और क्या सहारा है मेरा?
मन—तब तुम उपभोग करना चाहते हो शान्ति नहीं?
प्राण—शान्ति शुष्क होती है; दुनिया के रेगिस्तान में आनन्द लूटना ही एकमात्र हरा-भरा स्थान है।
मन—क्या तुम्हें नहीं लगता कि अगर तुम शान्ति बनाये रखो तो ज़्यादा अच्छे आनन्द का उपभोग कर सकोगे?
प्राण— किसे पता? और भला क्यों मैं शान्ति की सँकरी गली से गुज़रूँ?

तो इस तरह प्राण, जिसका आदर्श-वाक्य "भोग" है, मन के सुक़राती तरीक़े (एकदम सही रास्ते पर चलना) को मानने में कठिनाई का अनुभव करता है!

यह मनोभाव समूचे प्राण का नहीं बल्कि उस भौतिक प्राण का है जो मनुष्य का पशु-भाग है। निश्चय ही इसे मन के किसी भी तर्क-वितर्क से विश्वास नहीं दिलाया जा सकता। अधिकतर मनुष्यों में यह जीवन के प्रति स्वाभाविक और स्वीकृत मनोभाव होता है और मन तथा उच्चतर प्राण को कुछ छूट देने के लिए उस पर परम्परागत नैतिकता और आदर्शवाद का मुलम्मा चढ़ा दिया जाता है। कुछ औरों में सत्ता का यह भाग मन या उच्चतर प्राण के किसी लक्ष्य से जकड़ा हुआ और उसके अधीन होता है, अतः वह गौण स्थान लेने को बाध्य होता है ताकि मन स्वयं को मानसिक खोजों या आदर्शों अथवा महान् राजनैतिक या वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं में निमग्न कर सके (लेनिन, स्टैलिन, मुसोलिनी इसके उदाहरण हैं)। तपस्वी तथा अतिनैतिकवादी इसे अधिकतर पूरी तरह से दबा देने की कोशिश करते हैं।। हमारे योग में सिद्धान्त यह है कि सभी को 'आत्मा' का यन्त्र होना चाहिये और उपभोग के भाग चीज़ों के अन्दर आनन्द का स्वाद लेते हैं, पाशविक सतही उपभोग का नहीं। लेकिन आनन्द तब तक नहीं आयेगा या बना नहीं रहेगा जब तक यह भाग परिवर्तित नहीं हो जाता या जब तक यह सन्तोष के अपने ही तरीक़े पर ज़ोर देता रहेगा।

७ जून १९३५

लेकिन क्या किसी भी चीज़ के लिए श्रीमाँ की "तुरन्त स्वीकृति" व्यक्ति को बेचैन

होने से रोक सकती है? मान लीजिये कि माँ उपन्यास या अख़बार पढ़ने या बाहर के दोस्तों से मिलने की स्वीकृति दे दें तो क्या इसका यह मतलब होगा कि व्यक्ति को चेतना के नीचे गिरने या भटकने का अनुभव नहीं होगा? और एक बार उनकी अनुमति के साथ पढ़ना क्या सभी परेशानियों का अन्त ले आयेगा? तब तो व्यक्ति पढ़ता रहेगा, पढ़ता ही रहेगा जब तक वह उसके लिए कष्टप्रद न हो जाये और तब तक वह अपने काम में कोई ध्यान ही नहीं देगा।

इस विचार के साथ कि इसे नहीं करना चाहिये, माँ की 'तुरन्त स्वीकृति' परेशानी की किसी भी भावना को निकाल बाहर करेगी। रही बात चेतना के नीचे गिरने की, वह तो एकदम से अलग चीज़ है—स्वीकृति उसे नहीं हटा सकती। और फिर व्यक्ति को पढ़ते समय एक नज़र काम पर भी रखनी होगी कि कब उसकी ज़रूरत पड़ जाये, और इस चीज़ का सम्भवत: समर्थन न किया जाये।

मुझे मालूम नहीं था कि इतने सारे लोग यहाँ से चले गये। जनवरी से अब तक गिनें तो १० के क़रीब चले गये हैं। यह स्पष्ट हो गया जब शान्ति ने मुझसे कहा कि तारामणि को जाना पड़ेगा। किसी ने कहा कि इसका कारण "छानना" या "दबाव" है। लेकिन क्या दबाव लोगों को यहाँ से निकाल देने के लिए कार्य करता है या फिर दूसरी शक्तियों का दबाव उन्हें यहाँ से चले जाने को उकसाता है?

ऊपर का "दबाव" लोगों को यहाँ से चले जाने के लिए कार्य नहीं करता—वह ग़लत शक्तियों का दबाव होता है। रही बात "छानने" की, तो यह एक बहुत व्यापक विचार है—लेकिन छानने का अर्थ क्या है? क्या जो लोग यहाँ से चले गये हैं, योग के लिए एकदम से अयोग्य थे, और वे सब जो यहाँ रह गये हैं, योग के लिए उपयुक्त हैं—क्या यही अर्थ है छानने का? मुझे नहीं लगता कि किन्हीं भी तथ्यों के द्वारा कोई भी इसका जवाब पा सकता है। तब इसके पीछे विचार क्या है? यह सच है कि हम बहुत कठिन काल से गुज़र रहे हैं। लेकिन इसका कारण बस यही है कि साधना निम्न से निम्नतर स्तर की ओर उतर कर आगे बढ़ रही है जहाँ 'अन्धकार' की शक्तियों का अधिकाधिक बोलबाला है, और अब वह अवचेतना में भी उतर गयी है जहाँ सभी कठिनाइयों की जड़ होती है। लेकिन दूसरी तरफ़, उतरती हुई 'शक्ति' भी महानतर है। अगर यहाँ से बहुत सारे चले गये, और बहुतों को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों से जूझना पड़ रहा है, तो ऐसे भी बहुतेरे हैं जो लगातार कई सालों की निष्क्रियता के बाद अनुभूति तथा प्रगति की ओर एकदम खुल गये हैं। यहाँ घाटे का खाता है तो मुनाफ़े का भी खाता खुला हुआ है।
८ जून १९३५

मुझे एक सपना आया जिसमें मैंने कई गाँधीवादियों को देखा जो आश्रम देखने आये थे—वे कहीं 'गेस्ट हाउस' के निकट थे। उनमें से दो १९३१ में आये थे जब मैं आया, लेकिन मैंने उनसे बातचीत करने में स्वयं को असमर्थ पाया। चीज़ें इतनी स्पष्ट थीं कि हो न हो, वे भौतिक स्तर से एकदम सटे हुए स्तर पर गुज़र रही होंगी। मैंने उन्हें ज़रा सन्देहभरी दृष्टि से देखा मानों वे हमारे आश्रम की छानबीन करने को यहाँ आये हों। बाद में तुरन्त मैंने उनमें से कुछ को ऊपर माँ के कमरे में देखा और श्रीमाँ मुझसे वहाँ मिलीं और उन्होंने मुझसे बातचीत की। कितने महीनों के बाद मैंने माँ को सपने में देखा! अपनी वर्तमान अस्त-व्यस्त अवस्था से परेशान मैं माँ से मिलने की सोच रहा था कि उनके पास बैठ कर उनसे बातचीत कर, अपना दुखड़ा रोकर मन हलका कर लूँ। लेकिन मैं उनके कार्यक्रम में बाधा नहीं डालना चाहता था, इसलिए मैंने रात, सपने की बातचीत से ही सन्तोष का अनुभव किया, यानी, अगर वे सचमुच में माँ थीं।

मेरे ख़याल से गाँधीवादी साधकों का सपना अंशतः इस तथ्य से आया होगा कि आजकल उनकी कुछ चिट्ठियाँ आ रही हैं, वस्तुतः, कल मैं एक पढ़ भी रहा था। उनमें से कुछ प्राणिक स्तर पर यहाँ आये हों और माँ से मिले हों; यह ऐसी चीज़ है जो बहुत आसानी से होती है।

निस्सन्देह वे माँ ही थीं जिनसे तुम मिले और यह भेंट ज़रूर इसी कारण हुई होगी कि तुम उनसे मिलने की सोच रहे थे।

शरीर में कितनी थकान और कमज़ोरी है और साथ ही सक्रिय रूप से काम करने की अक्षमता भी, एक भारीपन छाया हुआ है। आंशिक रूप में यह गरमी का प्रकोप हो या सक्रिय और लगनभरे कार्य का अभाव। ख़ासकर शाम के समय यह बहुत ज़्यादा होता है और इसके साथ-साथ विचार भी प्रायः मन्द पड़ जाते हैं या फिर जड़ता की अवस्था में इधर-से-उधर मँडराते रहते हैं।

बहुत सम्भव है कि यह गरमी की वजह से हो; ऐसी अस्वाभाविक और लगातार गरमी में कमज़ोर और सुस्त हो जाना स्वाभाविक है।

सतह पर कुछ यान्त्रिक विचार की प्रक्रिया चलती रहती है लेकिन व्यापक रूप में चेतना शान्त हो जाती है और बहुत समय बाद आराम मिलता है। ईर्ष्या, माँग और महत्त्वाकांक्षा का विक्षोभ अभी के लिए शान्त लग रहा है। अब ये चीज़ें दोबारा सिर उठायेंगी या ये पूरी तरह से चली गयी हैं इसमें सन्देह है। यह तो बस ऐसा लगता है मानों उस भाग पर का दबाव कम हो गया है या शिथिलता आ गयी है,

और इसलिए आराम का अनुभव हो रहा है।

अगर विक्षोभ को चले जाने दिया जाये तो वह नीचे बैठ जाता है और अचञ्चलता का आधार उभर आता है। वे विक्षोभ भले फिर से सिर उठायें, अगर उन्हें कोई स्वीकृति न मिले तो कुछ समय बाद वे बार-बार आने की शक्ति गँवा देंगे और तब व्यक्ति तब तक उनके प्रति उदासीनता दिखला सकता है जब तक कि उनका आना पूरी तरह से बन्द न हो जाये। सामान्यतया यही होता है।

मुझे अनुभव होता है कि मेरी एकाग्रता एक साथ दो बिन्दुओं पर चलती रहती है—सिर के ऊपर और हृदय के पीछे। जब वह सिर के ऊपर होती है तो मैं आराम का अनुभव करता हूँ और मेरे अन्दर साक्षी-चेतना होती है, वहाँ शान्ति और कुछ अचञ्चलता होती है। जब एकाग्रता हृदय के पीछे होती है तो अचञ्चलता की भावना ज़्यादा रहती है, लेकिन साथ ही थकान और भारीपन का भी भाव होता है। या फिर यह एक सहज पहचान है कि अगर एकाग्रता और नीचे जायेगी तो थकान और भारीपन भी इस हद तक बढ़ जायेंगे कि वे असहनीय हो उठेंगे, और तब निम्न विक्षोभ फिर से ऊपर उठ आयेगा।

एकाग्रता जब सिर के शीर्ष-स्थल पर होती है तब इसका अर्थ होता है कि मानसिक सत्ता वहाँ उच्चतर चेतना के साथ जुड़ रही है, और वहाँ प्रतिरोध न के बराबर या एकदम नहीं होता है। दूसरा स्तर यह दर्शाता है कि चैत्य चेतना उच्चतर चेतना के साथ जुड़ रही है, अतः महानतर निश्चल-नीरवता उतरती है, क्योंकि चैत्य मानसिक सत्ता से अधिक केन्द्रीय स्थल पर होता है; साथ ही, चूँकि यहाँ चैत्य के द्वारा बाक़ी निम्न चेतना को उच्च चेतना के साथ जोड़ने की चेष्टा की जाती है तो वहाँ प्रतिरोध आ जाता है। मानसिक जुड़ना प्राण तथा भौतिक को प्रभावित नहीं करता इसलिए वे शान्त रहते हैं या फिर उस समय शान्त बने रह सकते हैं—चैत्य जुड़ना उन्हें दबाव में ले आता है जिसकी पहली प्रतिक्रिया होती है, थकान की अनुभूति और अन्त में वह विक्षोभ में बदल सकती है। लेकिन सम्पूर्ण सत्ता के बदलाव के लिए चैत्य के द्वारा जुड़ना—अगर वह प्रभावी हो—तो कहीं अधिक शक्तिशाली होता है।

९ जून १९३५

काम के समय अपनी चेतना की अवस्था पर ग़ौर करते हुए मैं अपने-आप को भौतिक चीज़ें करने इत्यादि के बारे में सोचते हुए पाता हूँ। यह प्रायः भौतिक और प्राणिक स्तर पर जीना होता है। दूसरे समयों में मेरे अन्दर सतही विचार और कल्पनाएँ या फिर स्पष्ट प्राणिक गतियाँ चलती रहती हैं। यह चीज़ इस बात की

ओर इशारा करती है कि मैं प्राण और भौतिक में रमा रहता हूँ, मन में कम रहता हूँ। साधारण मनुष्य तथा एक साधक के बीच बहुत कम फ़र्क होता है, सिवाय इसके कि व्यापक रूप में देखें तो साधक सामान्य जीवन से कुछ अधिक की खोज में लगा रहता है या अधिक आन्तरिक जीवन जीने की कोशिश करता है।

ये सभी बाहरी चेतना की अवस्थाएँ हैं। केवल तभी जब व्यक्ति आन्तरिक जीवन जीता है, फ़र्क दिखायी देता है, क्योंकि तब आन्तरिक चेतना सच्ची चेतना बन जाती है, बाहरी तो मात्र एक किनारा है जिसकी क्रियाएँ सतही रूप से भले ऊपर आ जायें, लेकिन सत्ता की शान्ति, विस्तार, स्वतन्त्रता, प्रकाश तथा आनन्द को रोक नहीं सकतीं। शान्ति तब भी बनी रहती है जब सतह विक्षुब्ध होती है; बाहरी किनारा जब पूरी तरह से भौतिक चीज़ों में व्यस्त रहता है तब भी आन्तरिक स्वतन्त्रता तथा चेतना बनी रहती हैं। आन्तरिक बाह्य को सीमाप्रान्त की भाँति देखता है, यानी मात्र सतह के रूप में, जिसे बदलना और प्रदीप्त करना है। यहाँ तक कि अन्त में आन्तरिक भी बाह्य की सभी गतिविधियों पर शासन करता और उन्हें दिशा देता है, जैसे मनुष्य अपने उन औज़ारों पर नियन्त्रण रखता है जिन्हें वह काम के लिए उपयोग में लाता है।

१० जून १९३५ —श्रीअरविन्द